॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**जुलाई २०१९**

प्रबन्ध सम्पादक
**स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक
**स्वामी प्रपत्त्यानन्द**

सह-सम्पादक
**स्वामी मेधजानन्द**

व्यवस्थापक
**स्वामी स्थिरानन्द**

**वर्ष ५७**
**अंक ७**

**वार्षिक १३०/–** **एक प्रति १५/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–
१० वर्षों के लिए – रु. १३००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
**IFSC CODE :** CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस., व्हाट्सएप अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
**विदेशों में** – वार्षिक ४० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षो के लिए २०० यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
**संस्थाओं के लिये –**
वार्षिक १७०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ८५०/–

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,**
**रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)**
**विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५**
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

## अनुक्रमणिका

१. गुरु-वन्दना २९३
२. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) २९३
३. सम्पादकीय : मैं गीत तुम्हें सुनाने को ही गाता २९४
४. धर्म और विज्ञान : एक विश्लेषण (स्वामी आत्मानन्द) २९६
५. निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (३१) ३००
६. श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् (स्वामी ब्रह्मेशानन्द) ३०२
७. (कविता) तुम हो समरथ पूर्ण दयाला (चन्द्रमोहन) ३०५
८. यथार्थ शरणागति का स्वरूप (७/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ३०६
९. (युवा प्रांगण) गुरुपूर्णिमा और आधुनिक जगत (स्वामी मेधजानन्द) ३०९
१०. साधुओं के पावन प्रसंग (७) (स्वामी चेतनानन्द) ३१०
११. दृग्-दृश्य-विवेक: (२) ३१२
१२. सेवा और चित्तशुद्धि (स्वामी ओजोमयानन्द) ३१३
१३. सारगाछी की स्मृतियाँ (८१) (स्वामी सुहितानन्द) ३१८
१४. गौरी माँ और श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य (स्वामी तन्निष्ठानन्द) ३२०
१५. (प्रेरक लघुकथा) राजा की रक्षा, राज्य की सुरक्षा (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ३२३
१६. मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (१९) (स्वामी अखण्डानन्द) ३२४
१७. आध्यात्मिक जिज्ञासा (४३) (स्वामी भूतेशानन्द) ३२६
१८. आध्यात्मिक जीवन को स्वभाव बनाओ (स्वामी सत्यरूपानन्द) ३२८

१९. (बच्चों का आँगन) बालक उपमन्यु की गुरुभक्ति ३२९
२० (भजन एवं कविता) जय श्रीरामकृष्ण देव (धनराज मेवाड़ा) जिनके चित्त में गुरु ज्ञान बसै (स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती) ठाकुर बोलो कब आओगे (डॉ. सत्येन्दु शर्मा) नित बहाओ इन्हें हरि नमन के लिए (मुक्ताप्रसाद गुप्त 'मुक्तेश') ३३१
२१. जीवन-निर्माण की कुछ बातें (डॉ. जगदीश गाँधी) ३३२
२२. (कविता) रामकृष्णमय हो जाओ (अक्षय कुमार सेन) ३३३
२३. समाचार और सूचनाएँ ३३४

## जुलाई माह के जयन्ती और त्योहार

**१६ गुरुपूर्णिमा**
**३० स्वामी रामकृष्णानन्द**

## विवेक-ज्योति स्थायी कोष

| दान दाता | दान-राशि |
|---|---|
| डॉ. विनया पेंडसे, फतेहपुरा, उदयपुर (राजस्थान) | ५०००/- |
| श्री जुगल किशोर बोहरा, जोधपुर (राजस्थान) | १०००/- |

## आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

यह घटना स्वामी विवेकानन्द के परिव्राजक काल में अलवर में घटित हुई थी। अलवर के महाराजा मंगल सिंह ने स्वामी विवेकानन्द से प्रश्न किया–'मूर्तिपूजा पर मैं विश्वास नहीं करता; इससे मेरी कोई हानी होगी?' स्वामीजी -'जिसको जैसा विश्वास' बताकर इसे टालने का प्रयास किया; लेकिन महाराजा को इस प्रश्न की कोई अन्य मीमांसा की जिज्ञासा थी। तब स्वामीजी ने राजा के दीवान श्रीराजचन्द्रजी को महाराजा की दीवार पर टँगी तस्वीर को उतारकर उस पर थूकने के लिए कहा। दीवानजी तो हतप्रभ हो गये वह किसी भी प्रकार से यह कार्य करने को तैयार नहीं हुए। स्वामीजी महाराजा को समझाने लगे कि वस्तुत: तस्वीर में महाराजा स्वयं विद्यमान नहीं हैं; इसमें उनका प्रतिबिम्ब मात्र है, फिर भी उनके अनन्य अनुरागी कर्मचारी उस तस्वीर में महाराज को ही देखते, अनुभव करते हैं तथा उसका सम्मान करते हैं। उसी प्रकार भक्तगण मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातु से बनी प्रतिमा में अपने इष्ट देवी-देवताओं की ही पूजा करते हैं। यह प्रतिमा उन लोगों को उनके अपने इष्ट का या इष्ट की महिमा का स्मरण करा देती है तथा उन लोगों की ध्यान-धारणा में सहायक होती है। वे लोग तो पत्थर या धातु की ही पूजा नहीं करते हैं। मैं कई जगहों पर गया हूँ, परन्तु कहीं भी तो किसी को भी यह कहकर प्रतिमा की पूजा करते नहीं देखा कि 'हे पत्थर, मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ! हे धातु तुम मुझ पर कृपा करो!' सभी केवल उसी अद्वितीय चैतन्यस्वरूप परमात्मा की ही पूजा करते है; और भगवान को जो जिस रूप में समझता है या उनका जिस रूप में चिन्तन-मनन करता है, उसी रूप में वे भी उसे दर्शन देते हैं।

*विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org*

| क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता | प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान) |
|---|---|
| ५६३. श्री किशोर एन. दोशी, ठाणे (पश्चिम) महाराष्ट्र | जी.आर. मेठा मा. विद्यालय एवं जूनियर कॉलेज, रायगड़ (महा.) |
| ५६४. श्री जुगल किशोर बोहरा, फुल्ला गेट, जोधपुर (राज.) | ब्रह्मपुरी आदर्श विद्या मंदिर माध्यमिक, चांदपोल, जोधपुर (राज.) |

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।।

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**वर्ष ५७** **जुलाई २०१९** **अंक ७**

## गुरु-वन्दना

**बंदऊँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि ।**
**महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ।।**
**बंदऊँ गुरु पद पदुम परागा ।**
**सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।**
**अमिअ मूरिमय चूरन चारू ।**
**समन सकल भव रुज परिवारू ।।**
**सुकृति संभु तन बिमल बिभूती ।**
**मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।।**
**जन मन मंजु मुकुर मल हरनी ।**
**किएँ तिलक गुन गन बस करनी ।।**
**श्रीगुर पद नख मनि गन जोती ।**
**सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती ।।**
**दलन मोह तम सो सप्रकासू ।**
**बड़े भाग उर आवइ जासू ।।**
**उघरहिं बिमल बिलोचन ही के ।**
**मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ।।**
**सूझहिं राम चरित मनि मानिक ।**
**गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।।**

## पुरखों की थाती

**दानेन तुल्यो विधिरस्ति नान्यो**
**लोभाच्च नान्योस्ति रिपुः पृथिव्याम्।**
**विभूषणं शीलसमं च नान्यत्**
**सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत्।।६४४।।**

– इस पृथ्वी पर दान के समान अन्य कोई कर्तव्य नहीं है, लोभ के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है, शील (सज्जनता) के समान अन्य कोई आभूषण नहीं है और सन्तोष के समान दूसरा कोई धन नहीं है।

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
**धीर्विद्या सत्यम्-अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।६४५।।**

– धर्म के ये दस लक्षण हैं – धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), मन का निग्रह, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना। (मनु)

**पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः सह।**
**शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा स वै पुरुष उच्यते।।६४६।।**

– उसी को सच्चा मनुष्य कहते हैं, जो सत्पात्र को दान करता है, जो सद्गुणों में अनुराग रखता है, जो अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ सुखभोग करता है, जो शास्त्रों का ज्ञाता है और जो युद्ध के समय वीरता दिखाता है।

सम्पादकीय

# मैं गीत तुम्हें सुनाने को ही गाता

**तुम गाओ भजन अपने प्रभु के लिए,**
**मत गाओ भजन लोकसुख के लिए।**
**इस जग में केवल प्रभु ही हैं अपने,**
**शेष हैं स्वार्थी तन-धन के लिए।।**

एक बंगाली भजन का भावार्थ है, जिसमें भक्त अपने मन को समझाते हुए कहता है, अरे मन सुनो, थोड़ा विचार कर देखो, इस संसार में कोई किसी का नहीं है, केवल माँ काली ही अपनी हैं। तुम इस मिथ्या जगत् में व्यर्थ इधर-उधर क्यों भटक रहे हो?

इस संसार की असारता, अनित्यता और प्रभु की नित्यता, शाश्वतता को समझकर ही भक्तों और साधकों ने संसार का त्याग किया और भगवान को स्वीकार कर उन्हें अपने जीवन का केन्द्र बनाया। भक्तों की सारी क्रियाएँ भगवान के लिये ही होती हैं। यह बात आदिकाल से भक्ति-साहित्य और भक्तों के इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। भक्त भगवान के लिये सब कर्म करता है। संसार में लोग धन-मान-यश-पद के लालच में अपने अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिये भोजन, संगीत, धन और परिश्रम द्वारा चापलूसी करते रहते हैं, किन्तु भक्त, साधक अपनी सारी क्रियाएँ भगवान की प्रसन्नता के लिये करते हैं। भक्तों के प्राण-आधार, प्रियतम भगवान ही होते हैं। इस संसार को प्रसन्न करने की वह चेष्टा नहीं करता। वह अपने इष्ट-परमात्मा को ही सब प्रकार से रिझाने का प्रयास करता है। इससे सम्बन्धित एक बड़ी प्रसिद्ध घटना है, जो यहाँ उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन बादशाह अकबर के नवरत्नों में से एक थे। वे राज दरबार के गायक थे। वे दरबार में अकबर और दरबारियों को विभिन्न राग-रागिनियों में गीत गाकर सुनाते थे। उनका गीत सुनकर सभी लोग मुग्ध हो जाते थे। दूर-दूर तक तानसेन के संगीत की ख्याति फैल चुकी थी। उनके जैसा गायक राज्य में कहीं नहीं था। अकबर भी गर्व करता था कि तानसेन जैसा संगीतज्ञ उसके दरबार में है। विभिन्न समयों पर अकबर के निर्देश पर उसकी रुचि के गीत तानसेन गाते थे। इससे अकबर बहुत प्रसन्न होता था।

एक दिन अकबर ने तानसेन से कहा, तुम्हारे गीत से मुझे बहुत आनन्द मिलता है। क्या यह तुम्हारी नैसर्गिक कला है या तुमने किसी से सीखी है? तानसेन ने कहा, महाशय, इसे मैंने स्वत: ही नहीं सीखी है, इसकी शिक्षा तो मैंने अपने गुरुजी से प्राप्त की है। अकबर ने कहा कि जब तुम इतना मधुर गाते हो, तो तुम्हारे गुरुजी कैसे गाते होंगे ! तानसेन ने कहा, महाशय, उनका गायन तो अनुपम, अद्वितीय है ! उनके संगीत से मेरी कभी तुलना ही नहीं हो सकती। अकबर ने कहा, मैं उनका संगीत सुनना चाहता हूँ। तुम उन्हें राज-दरबार में बुलाकर ले आओ। तानसेन ने कहा, वे कभी यहाँ नहीं आएँगे। वे जन-संकुल से दूर एकान्त में अपनी कुटिया में रहते हैं। अकबर ने कहा, ठीक है, हम दोनों वहाँ चलेंगे। तानसेन ने कहा, वहाँ जाने पर भी वे हमारे या आपके कहने पर नहीं गाएँगे। अकबर ने कहा, जैसे भी हो, मैं उनका गीत सुनना चाहता हूँ। तानसेन ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। वे अकबर को अपने गुरु हरिदासजी के यहाँ ले गये। उनको कुटिया के बाहर चुपचाप छिपाकर बैठा दिया। तानसेन ने स्वयं कुटिया में जाकर अपने गुरु हरिदासजी को प्रणाम किया। कुशल-क्षेम पूछने के बाद तानसेन ने एक गाना गाया और जान-बूझकर उसमें एक गलती कर दी। सन्त हरिदासजी शिष्य की गलती को सुधारने के लिये स्वयं वह गीत गाकर सुनाने लगे। हरिदासजी के गीत की तारतम्यता, मधुरता, आरोह-अवरोह और नैसर्गिक स्वर ने अकबर बादशाह को मन्त्रमुग्ध कर दिया। तानसेन ने गुरुजी को प्रणाम किया और विदा ली। उसके बाद तानसेन और अकबर वहाँ से राज-दरबार वापस आ गए।

एक दिन तानसेन राज दरबार में भजन गा रहे थे। उनका भजन सुनकर अकबर ने कहा, तानसेन ! तुम्हारे गीत में वह नैसर्गिक स्वर की मधुरता नहीं है, जो तुम्हारे गुरुजी में थी। तानसेन ने कहा, महाराज, मेरे गीत के स्वर में वह नैसर्गिकता नहीं मिलेगी, क्योंकि मैं बादशाह के लिये गाता हूँ और मेरे गुरुजी भगवान के लिये गाते हैं। तानसेन ने कितनी विलक्षण बात कही थी !

कार्य की प्रणाली एक, किन्तु जब वह स्वार्थपूर्ण होता है, तो उसका प्रभाव अलग होता है और जब परमार्थ के

लिये होता है, तब उसका प्रभाव अलग होता है। भगवान के लिये किए गए सभी कार्यों की पावन सुरभि मानव की अन्तरात्मा को तृप्त कर देती है। उतनी सन्तुष्टि और तृप्ति भक्त को किसी अन्य प्रकार से किए गए कर्म से नहीं होती है, जितनी सन्तुष्टि और तृप्ति उसे भगवान के लिये कर्म करने से होती है।

कर्म करने की कई प्रविधियाँ हैं, उनमें सन्निहित विभिन्न भावनायें हैं, किन्तु भगवान हेतु, भगवद्भाव से भगवत्प्रसाद हेतु किये गये कर्म सर्वाधिक तृप्तिदायक होते हैं, इसलिये ये सर्वश्रेष्ठ कर्म हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण शरणागत हो अपने गुरु और आराध्य श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में अपनी अन्तरतम की मार्मिक भावनाएँ व्यक्त करते हुए कहा था – **'गाई गीत सुनाते तोमाय'** – 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को'।[१]

शिवाराधक श्रीशंकराचार्यजी भगवान शिव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं –

**आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं**
**पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।**
**संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो**
**यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।।**[२]

– 'हे भगवान शिव शम्भो ! आप मेरी आत्मा हैं। जगन्माता गिरिजा मेरी बुद्धि हैं। मेरे प्राण आपके सेवकगण हैं, मेरा शरीर आपका निवासस्थल है, आपका मन्दिर है। सभी विषय-भोग की रचना आपकी पूजा है और मेरी निद्रा समाधि है। मेरा पद-संचार, अर्थात् मैं पैरों से जहाँ भी जाता हूँ, वह सभी आपकी परिक्रमा करना है, मेरे मुख से निकले सभी शब्द आपके स्तोत्र हैं। हे प्रभो, मैं जो भी कर्म करता हूँ, वे सभी आपकी आराधना हैं।

अपने जीवन की सभी क्रियाएँ देवी को समर्पित करने और सबमें देवी-भाव का सन्निवेश करने हेतु बंगाल के सन्त कवि रामप्रसाद अपने मन से कहते हैं – **'मन बोली भज काली, इच्छा हय तोर जे आचारे।'** अर्थात् हे मन ! मैं कहता हूँ, तेरी जिस प्रकार से इच्छा हो, उस प्रकार से तू काली का भजन कर। गुरुप्रदत्त महामन्त्र का निशदिन जप करो, शयन को प्रणाम, निद्रा को ध्यान और भोजन करने को श्यामा माँ की आहुति करना समझो। जो कुछ सुनो, उसे माँ के मन्त्र समझो, माँ सर्वव्यापी, सर्वत्र वास करनेवाली हैं, इसलिये नगर में घूमते समय सोचो कि श्यामा माँ की परिक्रमा कर रहे हो।

स्थूल मन अर्चाविग्रह के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में ईश्वरीय सत्ता को सहजता से स्वीकार नहीं करता। इसके कारण वह अपने दैनिक कर्मों से भगवान के चैतन्यात्मक सत्ता-बोध की संतुष्टि से वंचित रह जाता है। क्योंकि अर्चाविग्रह सीमित है। अर्चाविग्रह की उपासना का फल है – असीमित अनन्त परमात्मा की सत्ता से जोड़ देना। किन्तु निम्न कोटि का साधक विग्रह तक ही सीमित रह जाता है। वेदों, सभी अवतारों, ऋषि-मुनियों, आचार्यों ने भगवान की सर्वव्यापकता का संदेश दिया है। ईशावास्योपनिषद ने उद्घोषणा की –

**ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।**[३]

– इस संसार में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था –

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।**[४]

– हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सम्पूर्ण संसार को श्रीसीता-राममय भाव से प्रणाम करते हुये कहा,

**सिय राममय सब जग जानी।**
**करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।**[५]

श्रीरामकृष्ण देव ने 'शिवभाव से जीवसेवा' का सन्देश दिया। वे कहते थे – "मैं उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। ...वही यह सब कुछ बना है। वही जीव और जगत् बना है। स्वामी विवेकानन्द ने 'नर-नारायण की सेवा', 'मानव-सेवा माधव सेवा' का संदेश दिया।

यदि हमारी दृष्टि बहुत व्यापक न हो सके, तो कम-से-कम चेतन प्राणियों और सर्वोपरि मनुष्य की ईश्वर-भाव से सेवा करेंगे, तो अर्चाविग्रह के अतीत व्यापक भगवन्मय वृत्ति हमारी हो जाएगी, इससे सर्वत्र ईश्वर-सान्निध्य की प्रतीति होगी। हमारे सारे कर्म परमात्मा के लिये ही हो रहे हैं, इसका बोध होगा। यह सर्वव्यापी ईश-बोध हमें ईश्वर-प्रसाद, प्रभु-प्रसन्नता की सन्तुष्टि प्रदान करेगा। तब हम पूर्णतः ईश्वर को समर्पित भाव से मुक्त कण्ठ से गा सकेंगे – **मैं गीत तुम्हें सुनाने को ही गाता।** ○○○

**सन्दर्भ सूत्र – १.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-९, पृ. ३२५ **२.** श्रीशंकराचार्य, शिवमानस पूजा ४, **३.** ईशावास्योपनिषद १/१/१, **४.** भगवद्गीता, १८/६१, **५.** रामचरितमानस, १/७घ/२

# धर्म और विज्ञान : एक विश्लेषण

## स्वामी आत्मानन्द

आज के चिन्तन का विषय है 'धर्म और विज्ञान'। अध्यक्ष महोदय ने अपने प्रास्ताविक भाषण में इन दोनों विषयों की ओर संकेत किया है और कहा है कि प्राचीन भारत में धर्म और विज्ञान में विरोध नहीं था। यह भी उन्होंने कहा है कि पुराकाल में भारत में विज्ञान के क्षेत्र में प्रभूत उन्नति देखी जाती है। यह बिलकुल सही बात है। १२वीं शताब्दी तक हम यही बात पाते हैं कि भारत हर क्षेत्र में अग्रणी था। यहाँ तक कि, जिसको हम न्यूटन के द्वारा आविष्कृत गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कहते हैं, वह भी न्यूटन से पाँच सौ साल पहले भारत के मनीषी भास्कराचार्य के द्वारा उद्घाटित हुआ था। ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर और भास्कराचार्य, ये गणित और विज्ञान के क्षेत्र के बड़े मनीषी रहे हैं। भास्कराचार्य १२वीं शताब्दी में हुए थे। उनका 'लीलावती बीजगणित' अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने जो कुछ भी चिन्तन किया, लिखा और आविष्कृत किया, वह सारा का सारा 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ में हमें प्राप्त होता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा यह ग्रन्थ तीन भागों में अँग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। जब हम उसे पढ़ते हैं, तब दिखाई देता है कि आज से आठ सौ साल पहले विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने कितनी उन्नति की थी। भास्कराचार्य एक स्थान पर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं —

**आकृष्टि शक्तिश्च मही तया यत्**
**खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।**
**आकृष्यते तत् पततीव भाति**
**समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।**

– अर्थात् यह पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से आकाश में स्थित पदार्थों को सतत अपने केन्द्र की ओर खींच रही है। उसका यह जो आकर्षण करना है, वह ऐसा लगता है कि पदार्थ नीचे गिर-सा रहा है। जहाँ सब कुछ सब ओर समान है, वहाँ पर कौन किसमें गिरे?

अब इससे बढ़कर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की क्या व्याख्या हो सकती है? हम पढ़ते हैं कि न्यूटन ने १७वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को आविष्कृत किया, पर 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ बतलाता है कि भास्कराचार्य ने न्यूटन से ५०० साल पहले ही इसे खोज लिया था। फिर, अवकल-गणित (Differential Calculus) के मूल सूत्र भी हमें 'सिद्धान्त शिरोमणि' में प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह कि हमने उन सूत्रों को लेकर 'चलन-कलन' विद्या का विकास किया होता, तो Differential Calculus की भारतीय परिपाटी हमारे पास होती, जो आज की पश्चिमी परिपाटी से भिन्न होती।

जो भी हो, भारत में उन विद्याओं का बहुत विकास हुआ था। यहाँ धर्म भी विकसित था और विज्ञान भी। भारत में धर्म और विज्ञान को लेकर कोई झगड़ा नहीं था, क्योंकि धर्म हमारे भीतर, हमारे रक्त में, हमारी नस-नस में व्याप्त था और कहीं ऐसा नहीं लगता था कि विज्ञान और धर्म में टकराव है।

हम धर्म और विज्ञान में झगड़े की जो बात सुनते हैं, वह यूरोप की देन है। आप जानते हैं कि जब विज्ञान की रोशनी यूरोप में फैली, तब वहाँ प्रचलित ईसाई धर्म के नेताओं में खलबली शुरू हो गयी और उन्होंने नारा दिया — Religion in danger (धर्म खतरे में है)। कारण यह है कि विज्ञान किसी बात को किसी के कहने मात्र से मान नहीं लेता। उसकी प्रणाली परीक्षण की है। कोई कितना भी बड़ा वैज्ञानिक क्यों न हो, उसके मात्र यह कहने से कि मैंने अमुक प्रयोग सिद्ध किया है, दूसरे वैज्ञानिक उसे मानेंगे नहीं, जब तक वे उसे स्वयं सिद्ध करके नहीं देख लेते। किन्तु धर्म के क्षेत्र में सामान्यत: हमारी मान्यता यह है कि धर्म मानने पर जोर देता है; वह कहता है कि धर्मग्रन्थ में ऐसा लिखा है, इसलिए तुम्हें इसे मान लेना चाहिए। इस प्रकार धर्म और विज्ञान दोनों की प्रणालियाँ अलग अलग हैं। धर्म की प्रणाली विश्वास की है, जबकि विज्ञान की प्रणाली प्रयोग की। अब चूँकि ये दोनों प्रणालियाँ भिन्न हैं, इसलिए हमें लगता है कि धर्म और विज्ञान में विरोध हो सकता है।

यूरोप में यह विरोध हुआ भी। किन्तु भारत में पुराकाल में, अभी की बात छोड़ दीजिए, धर्म की प्रणाली भी प्रयोगात्मक थी। हम लोग धर्म के क्षेत्र में विश्वास इसलिए नहीं करते थे कि किसी मनीषी ने कहा है, अपितु हम उसे अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करते थे, अपने जीवन की प्रयोगशाला में उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे; और जब वह सिद्ध हो जाता, तब उस पर विश्वास करते थे। इसीलिए हम भारत में देखते हैं कि धर्म इतना जाग्रत बना रहा।

जब तक धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग न हों, तब तक वह केवल अन्धविश्वास और कुसंस्कार का स्तूप मात्र बना रहेगा, जैसा कि आज हमें दिखाई देता है। एक काल ऐसा आया, जब हमने धर्म के क्षेत्र में प्रयोग करना बन्द कर दिया, हमने केवल बातों को मानना शुरू कर दिया। इससे हमारे देश में सारी गड़बड़ी शुरू हो गयी। जब तक कोई प्रवाह बहता रहता है, तब तक उसका जल स्वच्छ-निर्मल होता है, प्राणदायी होता है। पर यदि उसका बहना बन्द हो जाय, तो भले ही ऐसा लगेगा कि जल बहुत इकट्ठा हो गया, पर उस इकट्ठे जल में धीरे धीरे सड़ान्ध पैदा होने लगेगी और वह लोगों के लिए हानिकारक हो जायेगा। इसी प्रकार जब तक चिन्तन का प्रवाह बहता रहता है, तब तक वह प्राणवन्त रहता है, पर जब मानने की परम्परा आ जाती है, जब कहा जाता है कि विश्वास कर लो, तब मानो हम चिन्तन-प्रवाह को रुद्ध कर देते हैं, चिन्तन के दरवाजे बन्द कर देते हैं, हम जो देखते हैं, उस पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाते, केवल स्वीकार कर लेते हैं। आज इसी प्रकार का स्वीकरण हमारे वैचारिक जीवन में पतन पैदा कर रहा है। भारत में यह जो ५००-८०० साल का गुलामी का काल रहा है, वह चिन्तन के क्षेत्र में पतन का काल रहा है। फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में जो तेजस्विता होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पायी।

आज विज्ञान इतना तेजस्वी क्यों है? – यह प्रश्न हमारे मन में उठता है। आज विज्ञान का हर अंग पुष्ट है। कारण यह है कि उसके हर अंग में रिसर्च चली हुई है, खोज चली हुई है, गवेषणा चली हुई है, अनुसन्धान चला हुआ है। विज्ञान का कोई भी छोटा-सा अंग ले लें, वहाँ पर सतत अनुसन्धान की प्रक्रिया चली है। इस अनुसन्धान के बल पर विज्ञान का वह अंग पुष्ट बना रहता है। मान लीजिए, विज्ञान के एक क्षेत्र में किसी वैज्ञानिक ने घोषणा कर दी कि मैंने अमुक-अमुक तत्त्व प्राप्त किया है, तो क्या दूसरा वैज्ञानिक उसे मान लेगा? जब तक वह उसे परीक्षण से स्वयं सिद्ध नहीं कर लेगा, तब तक विश्वास नहीं करेगा। अब यह जो दूसरे वैज्ञानिक ने उसे परीक्षण से सिद्ध कर लिया, मानो उस अंग का पोषण हो गया। तो, विज्ञान का हर अंग आज परीक्षणों और प्रयोगों के कारण पुष्ट है। किन्तु खेद की बात है कि धर्म का अंग पुष्ट नहीं हो पा रहा है, क्योंकि वहाँ पर अनुसन्धान की प्रक्रिया बन्द हो गयी है।

आज से आठ सौ साल पहले हमारे यहाँ धर्म के क्षेत्र में भी मानने की यह परम्परा नहीं थी। हम कहते थे, ठीक है, मनु ने कहा है, हम इस पर विचार करेंगे। आखिर मनु ने तो बहुत ही बातें कही हैं ! हम मनु की सभी बातें तो नहीं मानते हैं। आज जब मनुस्मृति पढ़ते हैं, तो देखते हैं कि मनु ने नियोग-प्रथा की वकालत की है। आज क्या नियोग-प्रथा समाज में विराजमान है? हमने ही उस प्रथा को निकालकर फेंक दिया है। यदि मनुस्मृति को आज भी हम कारगर मानते हैं, तो उसमें जो कुछ लिखा है, उसमें काट-छाँट क्यों करते हैं? हमें जो अपने अनुकूल लगता है, उसे तो ग्रहण कर लें और जो अनुकूल नहीं है, उसे त्याग दें, यह तो किसी ग्रन्थ को स्वीकार करने का तरीका नहीं है। नियोग-प्रथा तो मैंने एक उदाहरण के रूप में आपके समक्ष रखा। यदि हमने मनु महाराज की कुछ बातों को स्वीकार किया और कुछ को नहीं, तो यह मनुस्मृति का स्वीकरण नहीं है। यह वैज्ञानिक तर्क है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस समय चिन्तनशील मनीषी था, जिस समय वह धर्म के क्षेत्र में भी सतत अनुसन्धान करता था, उस समय हमारा धर्म प्राणवन्त बना हुआ था। तब भारत में धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं था।

दोनों का यह विरोध तो यूरोप से आयातित है, वह पश्चिम की देन है। वहाँ दोनों में जमकर लड़ाई हुई। हम गैलीलियो की कथा पढ़ते हैं। उसने अपनी खोज के बल पर यह आविष्कार किया कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है, जबकि ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल में यह लिखा है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बस, क्या था, धर्म के नेताओं ने जाकर सम्राट के पास शिकायत की कि गैलीलियो धर्मद्रोही है। गैलीलियो के अपराध पर विचार करने के लिए राजसभा बुलायी गयी। गैलीलियों को राजसभा में उपस्थित होने का आदेश दिया गया। उसके मित्रों ने कहा – ''देखो,

ये जो धर्मध्वजी लोग हैं, ये बड़े जालिम हैं। अपने को धार्मिक नेता तो कहते हैं, पर हैं बड़े दुष्ट, बड़े कट्टर ! वे तुम्हें प्राण-दण्ड देने की माँग करेंगे। तुम सोच-विचार से काम लेना।''

गैलीलियो ने संकेत सुन लिया। राजदरबार में उस पर अभियोग लगाया गया कि यह धर्मद्रोही है। राजा ने उससे कहा, ''तुम धर्म का द्रोह करते हो?'' गैलीलियो ने कहा, ''मैंने भला कब धर्मद्रोह किया है?''

''तुम तो ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हो, जो धर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है।'' – राजा ने शिकायत की।

''मैं आपकी बात समझ नहीं पाया, सम्राट !'' – गैलीलियो ने उत्तर में कहा।

''तुम हमें यह सिद्धान्त बताते हो न कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है, यह तो धर्मद्रोह है, क्योंकि धर्म की पुस्तक में लिखा है कि सूरज पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बोलो, तुम्हें कुछ कहना है?'' सम्राट ने कहा।

''आप जो कहना चाहें, वही मेरा भी कहना है। आपसे उलटी बात मैं कैसे कह सकता हूँ?'' – गैलीलियो बोला।

''तो तुम मानते हो कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है?'' – सम्राट ने पूछा।

गैलीलियो ने कहा, ''जैसा आप कहें, वह मानने के लिए मैं बाध्य हूँ !''

''तो ठीक है, तुम इस दस्तावेज पर दस्तखत कर दो।'' – राजा ने आदेश दिया।

गैलीलियो ने हस्ताक्षर कर दिये। उसमें लिखा था – ''मैं, अमुक का पुत्र गैलीलियो, आज अमुक तिथि को यह घोषणा करता हूँ कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता है और जो मैं कहा करता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, वह सही नहीं है।''

गैलीलियो प्राण-दण्ड से छूट गया। उसके विरोधियों ने उस पर व्यंग्य-बाण चलाये – ''क्यों, बहुत शेखी मारते थे न ! अब क्या हुआ? आखिर तुमने धर्म के द्वारा घोषित सिद्धान्त पर ही हस्ताक्षर कर दिये न !'' गैलीलियो बोला, ''मेरे हस्ताक्षर करने से क्या होता है? क्या उससे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करना बन्द कर देगी? होगा तो वही, जो सत्य है, मेरे हस्ताक्षर करने से क्या आता-जाता है?'' उसके विरोधियों ने यह बात भी राजा के पास पहुँचा दी और गैलीलियो को प्राण-दण्ड दिया गया। यहाँ से धर्म और विज्ञान का विवाद आरम्भ होता है।

होता यह है कि जब कोई धर्म तर्कशून्य हो जाता है, तो वह कट्टर, संकीर्ण हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि का तिरस्कार करता है। वैज्ञानिक दृष्टि व्यक्तिगत या सम्प्रदाय-निरपेक्ष होती है। वह हमारे समक्ष सार्वभौम धर्म का उद्घाटन करती है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि ने धर्म-पुस्तक में लिखी किसी बात को काटा, तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि विज्ञान धर्म का विरोध कर रहा है। हमें विज्ञान की उस दृष्टि को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जिस धर्म में विचार, चिन्तन, अनुसन्धान, गवेषणा और अनुभूति को महत्त्व दिया जाता है, वह कभी भी विज्ञान की प्रणाली से विरोध नहीं करेगा। वेदान्त एक ऐसा ही धर्म है, वह वैज्ञानिक प्रक्रिया का सामना करने में समर्थ है। यही कारण है कि विश्व के सभी देशों के विचारशील लोग वेदान्त की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। कुछ चोटी के वैज्ञानिक वेदान्त में भविष्य की आशा देख रहे हैं, क्योंकि वेदान्त के सिद्धान्त वैज्ञानिक मापदण्ड पर खरे उतर रहे हैं और विश्व की इस अनबूझ पहेली को बूझने के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि जैसे विज्ञान सत्य की खोज है, वैसे ही वेदान्त भी सत्य की खोज ही है। पर हाँ, दोनों की प्रणालियाँ भिन्न हैं। विज्ञान बाहर से, इन्द्रियग्राह्य जगत में सत्य की खोज करता है, जबकि वेदान्त भीतर से, मन के भीतर उस सत्य को पाने का प्रयास करता है। पहले भारत के ऋषियों ने भी सत्य को बाहर खोजने के बहुत प्रयास किए, पर सत्य मिला नहीं। हाँ, इस प्रयास में विज्ञान की अनेक विधाओं का आविष्कार अवश्य हो गया। तब ऋषियों ने भीतर सत्य की खोज शुरू की। उन्होंने देखा कि बहिर्मुखी होने से, इन्द्रियों को बाहर की ओर ले जाने से सत्य मिलता नहीं है, इसलिए वे इन्द्रियों को भीतर की ओर ले गये। इस प्रणाली का सुन्दर वर्णन हमें कठोपनिषद् (२/१/१) में मिलता है —

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू–**
**स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-**
**दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।**

'स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर दिया है, इसलिए जीव बाहर की ओर (बाह्य

विषयों को) देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। पर कोई धीर पुरुष था, जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को (बाहर जाने से) रोककर प्रत्यगात्मा को देख लिया।

इस एक श्लोक में साधना और सिद्धि के सभी सूत्र दे दिये गये हैं। यह आत्मानुशीलन की प्रणाली है। इन्द्रियाँ स्वभाव से बाहर की ओर जाती हैं (पराक्) और वह सत्य भीतर गया हुआ (प्रत्यक्) है। अतएव सत्य का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ना होगा। सत्य के साक्षात्कार से क्या होगा? – अमरत्व प्राप्त होगा। यह भारत की प्रणाली रही है। इसीलिए हमारे देश में धर्म और विज्ञान में झगड़ा नहीं हुआ, क्योंकि हमारे मनीषियों ने दोनों में टकराव का कोई कारण नहीं देखा। उन्होंने अनुभव किया कि एक सर्वव्यापी, सर्वानुस्यूत शाश्वत सत्ता है, जिसे अनन्त नियमों का पुंज कहा जा सकता है। बुद्ध ने इसे 'धम्म' (धर्म, LAW) कहकर पुकारा। जब यह अनन्त नियमपुंज अपने को बाह्य संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, तो ये विज्ञान के नियम कहलाते हैं और इन्हें विज्ञान की प्रणाली से जाना जाता है। और जब वही नियमपुंज अपने को मानसिक संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, तो वे अध्यात्म के नियम कहलाते हैं और उन्हें जिस प्रणाली के द्वारा जाना जाता है, उसे धर्म या अध्यात्म की प्रणाली कहते हैं। इस प्रकार हमारे चिन्तकों और मनीषियों ने इन दोनों प्रणालियों में कोई विरोध न देखा, अपितु दोनों को एक दूसरे का परिपूरक माना। पर पश्चिमी देशों के साथ यह बात नहीं थी। वहाँ धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्र और उन्मुक्त चिन्तन को स्थान नहीं था, इसलिए विज्ञान को वहाँ पर धर्म का बैरी माना जाने लगा। बात यह है कि धर्म ईश्वर को मानने पर जोर देता है और विज्ञान ऐसी किसी सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं है, जो परीक्षण से सिद्ध न होती हो। पहले तो वहाँ धर्म विज्ञान पर हावी था, जैसा कि गैलीलियो के साथ हुए व्यवहार से हम समझ सकते हैं। पर धीरे-धीरे विज्ञान शक्ति संचित करता गया, उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी और फिर वह समय भी आया, जब विज्ञान पूरी तरह धर्म पर हावी हो गया। आज सर्वत्र विज्ञान का ही बोलबाला है। पश्चिमी देशों में धर्म की आवाज अरण्य-रोदन के समान है। तथापि वहाँ भी लोग, चोटी के बहुत से वैज्ञानिक वेदान्त में भविष्य की आशा देखते हैं, विज्ञान में या अपने यहाँ प्रचलित धर्म में नहीं। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वेदान्त किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, वह मानवमात्र का धर्म है; वेदान्त विज्ञान की प्रक्रिया को खण्डित नहीं करता, बल्कि अपनी पुष्टि के लिए भी वैज्ञानिक प्रक्रिया को समर्थन देता है; वह मानव-जीवन की उन गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में सार्थक पहल करता है, जहाँ विज्ञान घुटने टेक देता है। वेदान्त के सम्बन्ध में सुविख्यात प्राच्यविद्या के पारंगत विद्वान मैक्समूलर का कथन मननीय है। वे अपने 'वेदान्त फिलासफी' (पृ.५) नामक ग्रन्थ में कहते हैं –

''शॉपेनहावर ने यह जो कहा है कि 'जगत में उपनिषदों के अध्ययन के अलावा और कोई अध्ययन नहीं है, जो वैसा उपादेय और उस प्रकार उदात्त हो। वह मेरे जीवन की सान्त्वना रहा है और मृत्यु की भी सान्त्वना रहेगा', उनके इस कथन को यदि किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने जीवन भर जो विभिन्न दर्शनों और बहुतेरे धर्मों के अध्ययन में लगा रहा और उससे मुझे जो अनुभव हुए, उन अनुभवों के बल पर मैं बड़ी खुशी से समर्थन दे सकता हूँ।''

जैसा हमने कहा कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान धर्म पर हावी हो गया। १९वीं शताब्दी का विज्ञान पूरी तरह धर्म पर अपना अधिकार जमा चुका था। १७वीं शताब्दी में न्यूटन आये। उन्होंने बहुत-सी खोजें कीं। उन्होंने विभिन्न ग्रहों का पता लगाया। यही नहीं, ग्रहों के बीच आपस में दूरी कितनी है तथा उनकी गति क्या है, यह सब उन्होंने प्रस्तुत किया। इसके कारण वैज्ञानिक ऐसा सोचने लगे कि बस, अब ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। वैसे न्यूटन स्वयं आस्तिक थे। ईश्वर और धर्म में उनकी आस्था थी। किन्तु उनके बाद के जो वैज्ञानिक आये, वे घोर नास्तिक थे। उन्होंने ईश्वर की सत्ता पूरी तरह नकार दी। उन्होंने ऐसा माना, हम दुनिया को गणित के समीकरण में बाँधकर रख सकते हैं। वह निश्चितवाद का युग (Deterministic age) था। वैज्ञानिक तब यही मानता था कि हम संसार में घटनेवाली किसी भी घटना को गणित के फार्मूलों में बाँधकर रख सकते हैं। इस पर पहला प्रहार तब होता है, जब हिज़नबर्ग नाम के वैज्ञानिक अपने अनिश्चितवाद के सिद्धान्त (Principel of indeterminacy) का प्रतिपादन करते हैं। तब विज्ञान के क्षेत्र में एक तहलका-सा मच जाता है। इसके बाद विज्ञान का स्वर कुछ नम्र होने लगता है। **(क्रमशः)**

# निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (३१)

## संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

(निवेदिता के पत्रांश)

महेन्द्रनाथ दत्त की बँगला पुस्तक 'लण्डने स्वामी विवेकानन्द' (भाग २) में हमें इस संस्कृत मंत्र के साथ आशीर्वाद का एक और भी बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है। स्वामीजी ने पिकैडेली के रॉयल इंस्टीट्यूट के वाटर पेंटिग गैलरी में राजयोग पर धारावाहिक रूप से व्याख्यान दिये थे। इस व्याख्यानमाला की समाप्ति पर जो कुछ हुआ था, उसका अविस्मरणीय रूप हम महेन्द्रनाथ की रचना में देख सकते हैं –

"स्वामीजी ने निश्चय किया कि वे विभिन्न प्रकार की समाधियों तथा उसके स्थूल पक्षों पर कुछ दिनों तक चर्चा करने के बाद राजयोग की प्रवचन-माला का समापन कर देंगे। एक दिन वे अपने व्याख्यान का विषय पूरा करने के बाद थोड़ी देर के लिये चुपचाप खड़े थे। इन कुछ मिनटों के अन्दर ही वे रूपान्तरित हो गये। उनके पूर्व के व्यक्तित्व, हावभाव, कण्ठस्वर, नेत्रों की दृष्टि आदि में आमूल परिवर्तन हो गया और उसकी जगह अब उनके भीतर से एक नवीन व्यक्ति प्रस्फुटित हुए। अब वे सभी को आशीर्वाद देने लगे। सहसा उनके कण्ठ से सुनाई दिया –

**ॐ मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।**
**माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः।**
**मधु नक्तमुतोषसि मधुमत्पार्थिवं रजः।**
**मधुद्यौरस्तु नः पिता।**
**मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः।**
**माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।**

इस संस्कृत मंत्र की आवृत्ति करने में स्वामीजी को ८ से १० मिनट लगे होंगे। वे एक पंक्ति उच्चारण करके और मानो किसी वस्तु की ओर देखते हुए स्थिर खड़े हो जाते। फिर दूसरी पंक्ति का उच्चारण करते और पूर्ववत् ही निस्पन्द तथा निर्वाक् खड़े रहे। पूरे मंत्र के साथ ऐसा ही हुआ। उनकी संस्कृत भाषा में आवृत्ति हुई थी, किसी ने भी उसका अर्थ या उद्देश्य नहीं समझा था, परन्तु नादब्रह्म एक ऐसी प्रत्यक्ष या शक्तिमान वस्तु है कि स्वामीजी ने जब उस मंत्र का उच्चारण करना शुरू किया, तभी उस हाल के भीतर गलीचों के ऊपर कुर्सियों पर बैठे (१५० से २०० तक) विशिष्ट श्रोताओं ने चुपचाप अपनी-अपनी कुर्सियों को हटाया और घुटने टेक दिये और हाथ जोड़े नतमस्तक होकर अति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनका आशीर्वाद ग्रहण करने लगे। केवल प्रारम्भ में कुर्सियों की खिसकाने की आवाज हुई थी, उसके बाद उस कक्ष में पूरी तौर से निस्तब्धता फैल गयी थी। केवल दीवालों पर लगी गैस की बत्तियों से सों-सों की ध्वनि निकल रही थी। उस मंत्र का उच्चारण करते समय उसका प्रत्येक शब्द, मात्रा, यति, छन्द आदि स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ था और वे सबको यही दिखा रहे थे कि कण्ठ से निकलनेवाले साम्य का स्पन्दन कैसा होता है। ... संस्कृत में मंत्र को बोलने के बाद उन्होंने अंग्रेजी में उसकी व्याख्या करके सबको समझा दिया था।

इस आशीर्वचन की समाप्ति के बाद उस रात किसी को भी पहले के समान बातें करने का साहस नहीं हुआ। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे अलग कण्ठस्वर वाले, अलग व्यक्तित्व वाले किसी भिन्न लोक के व्यक्ति हैं। आशीर्वाद समाप्त हो जाने पर वे गम्भीरतापूर्वक हॉल से बाहर निकल आये। इसके बाद सभी लोग बड़ी सावधानी के साथ बाहर आये।

* * *

परन्तु मैं उनके अन्तरंग विचारों के प्रति आँखें नहीं मूँद सकती – उन्हें (स्वामीजी को) यह शक्ति प्रदान करने के बाद उनके गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) केवल एक-डेढ़ वर्ष ही जीवित रहे, अत: उनकी भी अब थोड़ी ही आयु बची है। यह जीवन उनके लिये पीड़ा मात्र है और मैं – केवल हम लोगों के आनन्द हेतु – उनसे आयु में वृद्धि का अनुरोध नहीं करूँगी – परन्तु प्रिय युम, यदि परमात्मा के लिये तुम्हारी प्रार्थनाओं का कोई मूल्य हो, तो देखना कि उनका बाकी समय विजय तथा आनन्द से परिपूर्ण रहे। इसके बाद

भले ही मुझे हजारों बार मृत्यु मिले, मैं हजारों बार ज्वलन्त नरककुण्ड में फेंकी जाऊँ, तथापि मेरी प्रार्थना है – नहीं, मेरा उन परमात्मा से दावा है कि मैं उसके बदले, उनके जीवित रहते ही, उनके चरणों में दो-एक जयमालाएँ अर्पित करके जा सकूँ। यदि ईश्वर के पास सचमुच ही मातृहृदय होगा – तो मैं निश्चय ही इस वरदान से वंचित नहीं रहूँगी।

* * *

[निवेदिता ने यहाँ स्वामीजी के जिस मनोभाव की बात लिखी है, वही हमें कुछ दिनों बाद लिखे गये स्वामीजी के एक पत्र में मिलती है। १७ जनवरी, १९०० के दिन उन्होंने श्रीमती बुल को लिखा – ''अब मैं अपनी अपेक्षा आपके संचालन में अधिक विश्वास रखता हूँ। 'जो' (मैक्लाउड) तथा निवेदिता के हृदय महान् हैं; किन्तु मेरे संचालन की बागडोर माँ अब आपको ही सौंपना चाहती हैं। क्या आपको कुछ प्रतीत हो रहा है? ... मैं एक शिशु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हूँ। अब मेरा कार्य कैसा? अपनी शक्ति तो मैं आपके भीतर संचारित कर चुका हूँ। मुझे यह दिखायी दे रहा है कि अब मंच से सन्देश का प्रचार करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। ये सब बातें किसी से भी मत कहियेगा – 'जो' से भी नहीं। इससे मैं आनन्दित हूँ। मैं विश्राम चाहता हूँ। ऐसी बात नहीं कि मैं थक गया हूँ, परन्तु अगला अध्याय होगा – वाक्य नहीं, अपितु अलौकिक स्पर्श, श्रीरामकृष्ण देव के समान! मेरे शब्द आपके पास और स्वर मार्गट के पास चले गये हैं। वह सब अब मेरे पास नहीं रहा। मैं प्रसन्न हूँ। सब छोड़ चुका हूँ। अब केवल मुझे भारत वापस ले चलिये।''

स्वामीजी से 'शक्ति' प्राप्त करने का परम आनन्द तथा गौरव महसूस करने के बाद भी निवेदिता का हृदय एक आशंका से विचलित हो गया था – नरेन्द्रनाथ में शक्ति-संचार करने के बाद श्रीरामकृष्ण मात्र एक-डेढ़ वर्ष ही जीवित रहे थे। इस मामले में भी क्या वैसा ही होगा! निवेदिता की आशंका सत्य सिद्ध हुई थी। स्वामीजी थोड़ा ही अधिक बचे थे – ढाई वर्ष!]

* * *

## २२ नवम्बर, १८९९ : श्रीमती बुल को

पश्चिमी देशों में उनका आगमन सूर्योदय के समान अथवा ईश्वर के आविर्भाव जैसा है। ऐसा लगता है मानो वे गति तथा शक्ति के पंखों से उड़कर आये हैं।

## ४ दिसम्बर, १८९९ : शिकागो (मिस मैक्लाउड को)

स्वामीजी चाहे कुछ मधुर कहें या कठोर – उनके सब कुछ के प्रति तुम्हारा स्नेहपूर्ण भाव अधिकांश लोगों को अकल्पनीय प्रतीत होता है। भलाई या बुराई के भीतर ईश्वर की समान रूप से अभिव्यक्ति, सबके प्रति समदृष्टि, पीड़ा सहने की इच्छा तथा इसी तरह के अन्य अनेक विषयों की व्याख्या – मैं एकमात्र उन्हीं के माध्यम से कर सकती हूँ। तथापि अनेक लोग इसे अवांछित मानकर इससे विमुख हो जाते हैं।

परन्तु मेरी हेल[१] तथा मैंने – आज अपराह्न में एक महान् सत्य का आविष्कार किया है। जिस व्यक्ति का स्वभाव उदासी तथा निराशा से पूर्ण रहता है, वह कष्टों पर विजय पाने तथा आनन्द बनाये रखने आदि के लिये स्वाभाविक रूप से ही 'क्रिश्चियन साईंस' के साधारणीकरण के नियमों के माध्यम से विकास तथा प्रगति प्राप्त करता है। तुम अपने 'जीवन की असफलताओं' से प्रेम और मैं अपने दुःख-कष्टों से प्रेम के द्वारा वह भूमिका निभा रहे हैं, जो केवल उत्साही स्वभाव के लोगों द्वारा ही सम्भव है। हम अपनी विपरीत अवस्था की ही कामना किया करती हैं। – समझ रही हो न? मेरी हेल के विषय में मेरी धारणा सही थी। उसमें जो सहन-शक्ति है, उसी के कारण वह इतनी महान् है। परन्तु वह स्वयं इस बात से अनभिज्ञ है। वह 'क्रिश्चियन साईंस' के सामान्य नियमों पर मुग्ध है; परमात्मा की – 'एक सिद्धान्त' के रूप में चर्चा करती है – और कहती है कि हम लोग इसके विपरीत दिशा में स्थित हैं। परन्तु वह सदैव गौरवशाली बनी रहती है।

क्या यह मजेदार नहीं है? दो व्यक्ति (निवेदिता तथा मेरी हेल) एक साथ बैठे हुए स्वप्न देखते कि एक व्यक्ति (स्वामीजी) के प्रति प्रेम के द्वारा वे आत्मीयता में आबद्ध हैं, परन्तु वे उस प्रेम की – दो धर्मों के माध्यम से – दो विपरीत रूपों में अनुभूति करती हैं।

तथापि स्वामीजी का क्या भाव है? क्या भयंकर की यह उपासना उनके लिये कोई नई चीज है? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। मुझे तो प्रतीत होता है कि मैंने – बिल्कुल प्रारम्भ

१. स्वामीजी – मेरी हेल को बहन मानते थे। अमेरिका में – उनके आवास को अपना घर मानते थे, तथापि कुमारी हेल की श्रद्धा 'वेदान्त' की अपेक्षा 'क्रिश्चियन साइंस' में कहीं अधिक थी।

शेष भाग पृष्ठ ३११ पर

# श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्


## स्वामी ब्रह्मेशानन्द

**रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी**


भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**[१] तथा

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**[२]

श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है, यह कहकर भगवान ने श्रद्धा को ज्ञानप्राप्ति के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में इंगित किया है। सभी ज्ञानी होकर पैदा नहीं होते और सबको शास्त्रों द्वारा कहे गये विधि-निषेधों की भी जानकारी नहीं होती, पर सभी में न्यूनाधिक मात्रा में श्रद्धा अवश्य होती है। ज्ञान तथा शास्त्रों की जानकारी का सम्बन्ध बुद्धि या मस्तिष्क से होता है, जबकि श्रद्धा हृदय या भावना का विषय है। हमारे दैनन्दिन जीवन के अनेक क्रिया-कलाप श्रद्धा अथवा विश्वास के द्वारा ही परिचालित होते हैं। सड़क पर चलते, अगर हमें आगे का रास्ता जानना हो तो हम सड़क पर चल रहे किसी व्यक्ति से या पास के दुकानदार से पूछते हैं। वह जो बताता है, उसे हमें श्रद्धापूर्वक मान लेना पड़ता है। बिना श्रद्धा के इस तरह के सामान्य कार्य भी संभव नहीं होते। अपने स्वयं के जन्म के हम स्वयं साक्षी नहीं हो सकते। हमें किसी-न-किसी की बात पर विश्वास रख, मान लेना पड़ता है कि अमुक हमारे माता-पिता हैं। माता-पिता की अधिकांश बातें बाल्यकाल से ही हम श्रद्धा, विश्वास की सहायता से मानते चले आए हैं, और ये बातें हमारे ज्ञानार्जन का आधार बनी हैं। इस तरह श्रद्धा हमारे सामान्य दैनन्दिन जीवन का आधार तो है ही, वह आध्यात्मिक जीवन का भी आधार है। यही कारण है कि गीता में एक पूरा अध्याय श्रद्धा के प्रकारों के विवेचन के लिए रखा गया है।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं कि तीन प्रकार की स्वभावजा श्रद्धा होती है। स्वभावजा शब्द ही इस बात की ओर इंगित करता है कि श्रद्धा सभी में स्वाभाविक है तथा पात्र-भेद तथा श्रद्धा के विषय के भेद से यह सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, तीन प्रकार की होती है। लेकिन ये तीनों श्रद्धाएँ शास्त्र-विधिरहित हैं, जैसाकि अर्जुन के प्रश्न से सूचित होता है – **''ये शास्त्र विधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।''** लेकिन जिस श्रद्धा से ज्ञान लाभ होता है, वह शास्त्रसम्मत होनी चाहिए। ऐसी ज्ञानोपयोगी श्रद्धा की परिभाषा शंकराचार्य ने इस प्रकार से की है – **''शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुध्यावधारणम् ।''** अर्थात् शास्त्र और गुरुवाक्य को सत्य मानकर बुद्धि में अवधारित करना श्रद्धा है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सभी मनुष्यों में श्रद्धा किसी-न-किसी रूप में रहती है और व्यक्ति की पहचान भी उसकी श्रद्धा से ही होती है – **''यो यच्छ्रद्धः स एव सः।''** लेकिन ज्ञान-साधन रूप श्रद्धा का विशेष महत्त्व है। श्रद्धा हमारे मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों एवं संशयों को दूर कर इनके द्वारा नष्ट हो रही मानसिक ऊर्जा को संचित रखती है। जैसा कि गीता में कहा गया है – **''अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।''** अश्रद्धालु व्यक्ति संशययुक्त होता है। लेकिन जिज्ञासा श्रद्धा की विरोधी नहीं है। विषय को समझने के लिये गुरु से प्रश्न अवश्य किया जाना चाहिए, **''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया''** लेकिन श्रद्धा के अभाव में तो गुरु से प्राप्त ज्ञान भी फलीभूत नहीं हो सकता।

शास्त्र और गुरु के वाक्य को सत्य मानना – श्रद्धा की इस परिभाषा से ऐसी धारणा हो सकती है कि श्रद्धा का विचार अथवा ज्ञान से कोई सम्बन्ध ही नहीं हैं। एक अन्य परिभाषा के अनुसार ज्ञान एवं जिज्ञासा के आधार पर श्रद्धा के तीन प्रकार हो सकते हैं –

**श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका।**
**प्रवृत्ति-मूलिका चैव जिज्ञासा मूलिकाऽपरा।**
**विचारहीन-संस्कार-मूलिका त्वान्तिमा मता।।**

अर्थात् विशुद्ध ज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विक है। जिज्ञासा और प्रवृत्तिमूलक श्रद्धा राजसिक तथा विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में सर्वप्रथम विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा ही विद्यमान रहती है, पर जिज्ञासा के उदय होने पर वह राजसिक एवं ज्ञान होने पर सात्त्विक हो जाती है।

श्रद्धा से वीर्य या उत्साह होता है, तथा यही श्रद्धा एक मुमुक्षु साधक की जननी की तरह रक्षा करती है। जिस

विषय में जिसकी श्रद्धा नहीं होती, उस विषय में उत्साह नहीं होता। श्रद्धा का भाव रहने से श्रद्धेय विषयों के प्रति आकर्षण बना रहता है और उसके गुणसमूह आविष्कृत होते जाते हैं। केवल उत्सुकतापूर्वक किसी विषय का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, लेकिन ऐसा ज्ञान केवल औत्सुक्य-निवृत्ति करता है। लेकिन जिस ज्ञानार्जन के साथ चित्त की प्रसन्नता या संप्रसाद रहता है, वही सात्त्विक श्रद्धा है। अत: श्रद्धा को ज्ञानार्जन का एक प्रमुख आधार-स्तम्भ माना गया है।

श्रद्धा मानसिक बल का एक लक्षण भी है। श्रद्धावान व्यक्ति जीवन के घात-प्रतिघातों में आसानी से विचलित नहीं होता। वह यम का भी सामना करने में समर्थ हो जाता है। यह बात कठोपनिषद में एक उपाख्यान के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से समझायी गयी है।

## नचिकेता की श्रद्धा

कठोपनिषद के प्रारम्भ में यम और नचिकेता के वार्तालाप की पृष्ठभूमि के रूप में एक छोटी-सी कहानी कही गयी है। नचिकेता के पिता एक यज्ञ करते हैं और अच्छी दुधारू गायों के बदले बन्ध्या, वृद्धा और दुग्धहीन गायों को दान देते हैं। मानव मन सर्वदा, सर्वत्र एक-सा ही होता है, चाहे वह औपनिषदिक काल ही क्यों न हो। हम निकृष्ट का दान कर श्रेष्ठ फल पाना चाहते हैं और इस तरह स्वयं तथा दूसरों को छलना चाहते हैं। नचिकेता के पिता भी इस मनोवृत्ति के अपवाद नहीं थे। वे स्वर्ग में सुख पाने की महान अभिलाषा से ऐसा एक यज्ञ करते हैं, जिसमें सर्वस्व समर्पण करना होता है। उनके किशोर पुत्र नचिकेता ने जब यह देखा कि वे सर्वस्व त्याग का संकल्प लेकर भी केवल निकृष्ट का ही दान कर रहे हैं, तो उनके मन में श्रद्धा का आवेश हुआ।

उपनिषद में इस शब्द 'श्रद्धा' का विस्तार नहीं किया गया है। संभवत: उपनिषद प्रणेता ऋषि यह मानकर चल रहे हैं कि श्रद्धा का अर्थ और महत्त्व सर्वविदित है। वस्तुत: श्रद्धा आदि मूल्य उस काल की वैदिक संस्कृति का अभिन्न अंग बन चुके थे। लेकिन हमारे लिए यह उचित होगा कि हम इस छोटे-से तथा सहज भाव से प्रयोग किए गये शब्द के महत्त्व पर गहराई से विचार करें। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने इस पर अत्यधिक बल दिया है। ''नचिकेता की-सी श्रद्धा'' – स्वामीजी का प्रिय वाक्य था। वे भारत के युवकों में इसी ''नचिकेता की-सी श्रद्धा'' को चाहते थे। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में श्रद्धा को ''आस्तिक्य बुद्धि: पितु: हितकाम प्रयुक्ता'' अर्थात् पिता की हितकामना से प्रयुक्त आस्तिक्य बुद्धि कहा है।

श्रद्धा के वास्तविक तात्पर्य का कुछ संकेत हमें कठोपनिषद से भी प्राप्त होता है। कठोपनिषद के तीसरे श्लोक में कहा गया है कि नचिकेता ने विचार किया कि इस तरह के निकृष्ट दान से स्वर्ग की प्राप्ति तो होती नहीं, बल्कि अन्धकारमय आनन्दरहित दुखपूर्ण नारकीय लोकों की प्राप्ति होती है। निश्चय ही यह ज्ञान नचिकेता को शास्त्रों से प्राप्त हुआ था और इस बात को वे निर्विवाद सत्य मानते थे। इसी को शंकराचार्य ने आस्तिक्य बुद्धि कहा है। अन्त:करण की निश्चयात्मिकावृत्ति को बुद्धि कहते हैं और इस निश्चय या सत्यरूप से अवधारणा की पराकाष्ठा ही उस विषय-विशेष के साक्षात्कार का रूप ले लेती है। बालक नचिकेता के शुद्ध सरल मन ने उपर्युक्त शास्त्रीय सत्य को स्वीकार नहीं किया था, वे तो मानों अपने पिता को नरक में जाते हुए देख रहे थे। उनकी यह दृढ़ श्रद्धा अनुभूति में परिणत हो चुकी थी। अत: उन्हें अपना कर्तव्य निर्धारित करने में देर न लगी और वह था पिता के प्रति पुत्र का कर्तव्य – पिता को दुख-कष्ट से बचाना।

यहाँ हमें नचिकेता के एक और सद्‌गुण की झलक प्राप्त होती है। उनका पिता से जाकर कहना कि आप शास्त्र विरोधी कार्य कर रहे हैं तथा इसके परिणामस्वरूप आपको नरक का कष्ट भोगना होगा, शील और सौजन्य का विरोधी होता। यही नहीं, यदि वे ऐसी बात पिता को कहते, तो प्रतिक्रिया प्रतिकूल होने की संभावना थी। अत: वे पिता के पास जाकर कहते हैं कि आप मुझे किसको दान करेंगे। सर्वस्वदान के व्रत में पुत्र भी पिता की सम्पत्ति होने के कारण दातव्य है। नचिकेता का विचार यह था कि ऐसा कहने पर पिता को यह स्मरण हो आयेगा कि उन्हें श्रेष्ठ वस्तुओं का, जिनमें पुत्र सर्वश्रेष्ठ है, दान करना होगा और तब वे वृद्ध दुग्धरहित गायों के बदले अच्छी दुधारू गायें दान करेंगे। इस तरह हम देखते हैं कि नचिकेता में कटुसत्य का पालन करते हुए भी शील और सौजन्य का अभाव नहीं है। बालक होते हुए भी वह चतुर है तथा पिता को किञ्चित् मात्र भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। लेकिन उसके पिता पर आशानुरूप प्रभाव नहीं पड़ा। एक-दो बार तो उन्होंने निर्लज्ज बालक की हठधर्मिता की उपेक्षा की, पर जब तीसरी बार बालक ने वही बात दुहरायी, तो पिता ने क्रुद्ध होकर कह दिया – ''जा,

मैंने तो तुझे मृत्यु को दिया।''

पिता द्वारा शापित होने पर नचिकेता के मन में जो विचार उठे, वे श्रद्धा के दूसरे पक्ष को प्रदर्शित करते हैं। वे सोचने लगे –

**बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यम:।**

**किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।। १/१/५**

अर्थात् मैं बहुतों में (बहुत-से बालकों में) प्रथम आता हूँ, बहुत-से बालकों में मध्यम आता हूँ, लेकिन कभी भी अधम नहीं होता। तब फिर यम का ऐसा कौन-सा कार्य है, जो पिताजी आज मुझसे करवायेंगे? नचिकेता का यह चिन्तन उनके आत्मविश्वास को प्रदर्शित करता है। मैं हीन नहीं हूँ, अधम-पापी नहीं हूँ, मैं कुछ कर सकने की सामर्थ्य रखता हूँ, मैं तत्त्वज्ञान का अधिकारी हूँ, इस तरह का आत्म-विश्वास श्रद्धा का अंग है। शास्त्र एवं गुरुवाक्य में श्रद्धा हो, लेकिन स्वयं में विश्वास न हो, तो इस प्रकार की श्रद्धा फलवती नहीं हो सकती। आखिर शास्त्र एवं गुरु के आदेशों का क्रियान्वयन तो स्वयं को ही करना होगा। शास्त्र व गुरुवाक्यों में श्रद्धा की सार्थकता आत्मविश्वास के कारण ही है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि सैकड़ों देवी-देवताओं में विश्वास होते हुए भी यदि किसी व्यक्ति में अपने आप में विश्वास नहीं, तो वह नास्तिक, श्रद्धाहीन ही है। नचिकेता में तो यमराज का सामना करने का भी सामर्थ्य एवं साहस था।

शास्त्रों में दृढ़ विश्वास एवं पिताजी के प्रति गहरी प्रीति से युक्त बालक नचिकेता ने यमराज के पास जाने का निश्चय कर लिया, क्योंकि वह पिता के वचन की सत्यता की भी रक्षा करना चाहता था। इधर, क्रोध शान्त होने पर आवेग और असावधानी में दिये गये अपने आदेश के लिये नचिकेता के पिता अनुतप्त होने लगे, क्योंकि वे भी तो पुत्र को स्नेह करते थे। पिता को इस प्रकार पश्चात्ताप करते देखकर नचिकेता ने उन्हें जो कहा, वह नचिकेता की बुद्धिमत्ता का परिचायक होने के साथ-ही-साथ श्रद्धा के तीसरे पक्ष को प्रकट करता है।

**अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।**

**सस्यमिव मर्त्य: पच्यते सस्यमिवाजायते पुन:।। १/१/६**

अपने पूर्वापर पुरुषों के सत्यनिष्ठ आचरण को देखिए, (और तदनुरूप शोक-मोह त्यागकर मुझे यम के पास जाने की आज्ञा दीजिए) मरणधर्मा मानव तो धान की तरह पकता और पुन: उत्पन्न होता रहता है। नचिकेता ने पूर्वजों के सत्यनिष्ठ आदर्श जीवन को पिता के सम्मुख प्रमाणस्वरूप रखा। यह उनकी अपने पूर्वजों में श्रद्धा का द्योतक है। स्वामी विवेकानन्द ने भारतवासियों में आत्मविश्वास जगाने के साथ-ही-साथ उन्हें अपनी उज्ज्वल पुरातन परम्पराओं में गौरवान्वित होना भी सिखाया है। वे भारतवासियों को बार-बार याद दिलाते थे कि वे ऋषियों की सन्तान हैं। पुरातन परम्परा में विश्वास व्यक्ति को अपने जीवन गठन के लिए सुदृढ़ मूल या नींव प्रदान करता है।

संक्षेप में श्रद्धा का पूर्ण अर्थ होगा, अपने आप में विश्वास, गुरु एवं शास्त्रवाक्यों में सत्यत्व एवं अपने पूर्व पुरुषों एवं परम्पराओं में गौरव-बोध।

## श्रद्धास्वरूपिणी पार्वती

शिव और पार्वती को क्रमश: विश्वास और श्रद्धा का घनीभूत विग्रह माना जाता है – **'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।** श्रद्धास्वरूपिणी जगदम्बा पार्वती की कथा के माध्यम से श्रद्धा का समग्र रूप अच्छी तरह से समझा जा सकता है। कथानक के अनुसार नारद के द्वारा पार्वती को यह निर्देश मिलता है कि वे शिव को पति के रूप में पाने के लिए तप करें। पार्वतीजी कठोर तप प्रारम्भ कर देती हैं। तदनन्तर सप्तर्षि (अन्य वर्णन के अनुसार स्वयं शिव) उनकी परीक्षा के लिये आते हैं तथा शिवजी के दोष दिखाकर उन्हें तप से विरत करने तथा विष्णु को वरण करने का सुझाव देते हैं। रामचरितमानस में वर्णित पार्वतीजी का सप्तर्षियों को दिया गया उत्तर श्रद्धा के स्वरूप तथा प्रभाव का अत्यन्त सुन्दर दिग्दर्शन कराता है।

सर्वप्रथम तो पार्वतीजी स्वयं बुद्धि की जड़ता तथा नारद के कथन को सत्य स्वीकार करने की बात दुहराती हैं। शिवजी की प्राप्ति उसी प्रकार असाध्य है, जैसे बिना पंख उड़ना या पानी पर दीवार बनाना। इस प्रकार स्वयं की जड़ता, हठ तथा लक्ष्य की असाध्यता का उल्लेख कर पार्वतीजी तर्क का मार्ग बन्द कर देती हैं। तर्क को शास्त्रों में अप्रतिष्ठ माना गया है – 'तर्काप्रतिष्ठानात्'। तर्क द्वारा एक बात को सत्य और असत्य दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। अगर तर्क का कोई श्रद्धा-विश्वासपरक आधार न हो, किसी मूल बात को मानकर न चला जाय, तो वह

किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। श्रद्धा का स्वरूप तर्क से बिल्कुल विपरीत है। वह किसी बात को सर्वप्रथम सत्य रूप से स्वीकार करती है। साधक स्वयं की अल्प बुद्धि को साधना या जीवन का आधार नहीं बना सकता। अत: वह अन्य किसी के उपदेशों में श्रद्धा रखकर साधना प्रारम्भ करता है। वे ही, शास्त्र या गुरु के उपदेश उसके जीवन के आधार स्तंभ बनते हैं।

पार्वतीजी लोगों द्वारा अपनी निन्दा व स्तुति की भी उपेक्षा करती हैं। सप्तर्षि का यह कथन कि तुम्हारा इष्ट एवं गुरु का चयन गलत हुआ है, तुम मूर्ख हो, इत्यादि उन्हें विचलित नहीं करता। श्रद्धालु साधक में निन्दा-स्तुति रूप व्यवधानों का सामना करने की क्षमता आ जाती है। वह लोक दिखावे के लिए, दूसरे किसी के अनुमोदन के लिये साधना नहीं करता। दूसरों के कथन के आधार पर स्वयं के कार्य का मूल्यांकन करने की बनियावृत्ति उसमें नहीं होती। वह तो केवल साध्य की प्रियता के लिए कर्म करता है। वह तो पार्वती की तरह नम्र होते हुए भी दृढ़ है तथा एक बार जिस गुरु तथा इष्ट को स्वीकार कर लिया है, उसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं चाहता।

श्रद्धा साधक को असंभव को संभव करने की क्षमता प्रदान करती है। वह स्वयं की क्षमता एवं पुरुषार्थ से अधिक प्रभु एवं गुरु की कृपा पर निर्भर करना सिखाती है। आध्यात्मिक साधना का पथ तो मानो पानी पर दीवार बनाने के समान असंभव है – **'चहत बारि पर भीति उठावा।'** कठोपनिषद में उसे तलवार की धार पर चलने के समान कहा गया है – **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः।** लेकिन वहाँ पर चलने की मनाही नहीं की गयी है। उसके उपाय के रूप में महापुरुषों से उपदेश प्राप्त करने की बात अवश्य कही गयी है – **प्राप्य वरान्निबोधत।** पार्वतीजी ने भी कार्य की कठिनाई से भयभीत न होकर गुरु के निर्देशों का पालन किया था। उनका दृष्टिकोण तो यह था कि गुरु और ईश्वर की कृपा पंखहीन दुर्बल साधक के दो पंख बन जाते हैं।

सप्तर्षि के परिहास से, उनके द्वारा साधना की कठिनाई का भय तथा शिव से श्रेष्ठ लक्ष्य का प्रलोभन दिखाये जाने पर भी शैलजा अडिग रहती हैं। यह श्रद्धा के सच्चे स्वरूप का परिचायक है। सभी साधना पद्धतियों में गुण-दोष रहते हैं। मगर साधक गुण-दोष देखता रहे, तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा। प्रलोभन, भय आदि बाधाएँ साधना में प्रगति की ही द्योतक हैं। लेकिन इन्हें बाधा मानकर आगे बढ़ना चाहिए। साध्य के अतिरिक्त कोई भी वस्तु चाहे वह कितनी भी महान क्यों न हो, बाधक है। इन बाधाओं से निकलने पर ही साधक अग्नि में तपाये सोने की तरह उज्ज्वल हो जाता है। अविचल निष्ठा रूपी पर्वत से उत्पन्न शैलजा ही श्रद्धा हैं, जो तपरूपी अग्नि में तपाये जाने पर म्लान होने के बदले और अधिक चमकती हैं। पार्वती रूपी सुवर्ण की परीक्षारूपी हथौड़ों से आभूषण का रूप दिये जाने पर उसे भगवान शिव की प्राप्ति एवं वरणरूप लक्ष्य प्राप्त होता है।

श्रद्धा में दृढ़ता एवं सरसता, कठोरता एवं कोमलता दोनों होती हैं। वह साधक को समस्त बाधाओं को झेलने की दृढ़ता, अविचल कठोरता प्रदान करती है, पर साथ-ही-साथ वह लक्ष्य के प्रति अगाध प्रेम एवं भावना से ओत-प्रोत भी बना देती है। ○○○

**सन्दर्भ सूची – १.** श्रीमद्भगवद्गीता ४/३९, **२.** वही, ४/४०

## तुम हो समरथ पूर्ण दयाला

### चन्द्रमोहन

**पूर्ण शरणागति लही अब, कुछ नहीं मेरा रहा।**
**प्राण तन-मन सब ही तेरा, मैं भी मेरा ना रहा ।।**
**करम धरम तुम पर सब छोड़ा, तेरे नाम की ली माला।**
**बन्धन भव के स्वतः कटेंगे, मैं जो तेरा हुआ कृपाला ।।**
**गिरवी रखा सब कुछ तुझको, अब तो कुछ भी रहा न मेरा।**
**छुड़ा कभी ना गिरवी पाऊँ, जीवनभर का चाकर तेरा ।।**
**हर पल तेरा चिन्तन चाहूँ, द्वारों पर ऐसा पहरा।**
**इन्द्रिय स्वामी अन्तर्यामी उतरूँ अन्तर में गहरा ।।**
**इधर-उधर ना मँडराऊँ अब, तव चरणन में हो डेरा।**
**फूल-फूल का रस ना चाहूँ, चरन कमल में होय बसेरा ।।**
**जल बिन मछली जैसे तड़पूँ, अभी तक ना हुआ सवेरा।**
**मत तरसाओ रूप दिखाओ, दूर करो अज्ञान अँधेरा ।।**
**तुम पर डाला भार जानकर तुम हो समरथ पूर्ण दयाला।**
**साख तुम्हारी लगी दाँव पर, मेरा क्या जाता प्रतिपाला ।।**

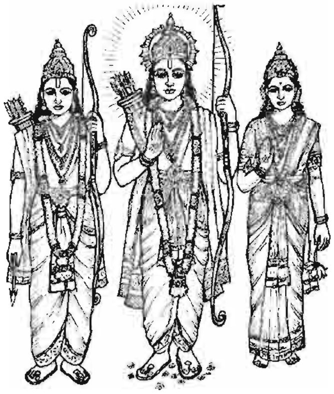

# यथार्थ शरणागति का स्वरूप (७/२)


## पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

कभी-कभी कोई व्यक्ति किसी एक प्रसंग में निर्भय प्रतीत होता है, पर अन्यत्र भयभीत दिखाई देता है। भय के अनेक रूप हैं, निर्भय तो केवल एक ईश्वर हैं। वाल्मीकि रामायण में ईश्वर यह घोषणा करते हैं –

**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**

**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।। ६/१८/३३**

भगवान कहते हैं – अभयदान देना ही मेरा व्रत है। इस अभयदान से बढ़कर कोई दान नहीं है। यह अभयदान तो जीव को ईश्वर ही दे सकता है। इसीलिए भगवान ने जब अवतार की घोषणा की, तो उन्होंने कहा, मत डरो, हम तुम्हारा भय दूर करने के लिए आ रहे हैं। उसके बाद भगवान ने थोड़ा विस्तार किया। पहले तो भगवान ने यही कहा कि मैं मनुष्य के रूप में आ रहा हूँ। किन्तु सुननेवालों ने भगवान के वाक्य की गहराई पर दृष्टि नहीं डाली। क्या वे सर्वशक्तिमान ईश्वर संकल्प मात्र से रावण का विनाश नहीं कर सकते? क्या वे जहाँ, जिस लोक में हैं, वहीं से या गरुड़ पर बैठकर रावण का वध नहीं कर सकते? पर भगवान ने पहला सूत्र यही दिया, उन्होंने एक वाक्य कहा कि मैं मनुष्य के रूप में जन्म लूँगा –

**तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा। १/१८६/१**

मैं तुम्हारे लिए मनुष्य वेष धारण करूँगा और इसके साथ-साथ उन्होंने दूसरा जोड़ दिया। यह वाक्य मानो उन लोगों के लिए है, जो यह कहा करते हैं कि भगवान अवतार लेते हैं, तो क्या इस समय अत्याचार और बुराई कम है कि अवतार नहीं ले रहे हैं? भगवान ने दूसरा सूत्र यह दिया कि आप लोगों को मेरे अवतार की आवश्यकता है, पर भगवान के अवतार के लिए केवल रावण की आवश्यकता नहीं है, दशरथ की भी आवश्यकता है। इसका अभिप्राय है कि जिसको माध्यम बनाकर प्रभु अपने को प्रगट करेंगे। उसका लाभ तो सारे संसार को प्राप्त होगा, पर वे किसी-न-किसी को माध्यम तो बनायेंगे। भगवान ने दूसरा सूत्र दिया था –

**कस्यप अदिति महातप कीन्हा।**

**तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।। १/१८६/३**

कश्यप और अदिति ने महान तप किया, मैंने उन्हें पूर्वकाल में वरदान दिया है कि वे दशरथ और कौशल्या के रूप में जन्म लेंगे और उनके यहाँ मैं अवतरित होऊँगा। चार रूपों में मैं जन्म लूँगा और सारी भूमि का भार दूर कर दूँगा। जिस समय देवताओं ने यह सुना, वे प्रसन्न होकर चले गए। अधूरा सुननेवालों का यह स्वभाव होता है, वे सारे जीवन उतना ही सुनते हैं, जितना उनके स्वार्थ और मन के लिए अनुकूल लगता है। ऐसे अद्भुत श्रोताओं की बात सुनने और देखने को मिलती है कि मैं तो आश्चर्यचकित हो जाता हूँ।

जबलपुर में मैंने देखा कि एक श्रोता बहुत सुन्दर, बड़ी मूल्यवान माला लेकर आते, पहनाते और बस दो-चार वाक्य कथा होती और वे उठकर चले जाते। पर बड़ा आश्चर्य, इतनी मूल्यवान माला बड़ी श्रद्धा से पहनाते और दो-चार वाक्य सुनकर चले जाते। जबलपुर के ही एक सज्जन हमारे निकटस्थ थे, उनसे मैंने कहा – भाई, ये बड़े विचित्र श्रोता हैं, बड़े नियम से ठीक समय पर आते हैं, बड़ी श्रद्धा से माला पहनाते हैं, पर दो-चार वाक्य ही सुनकर क्यों चले जाते हैं? उन्होंने कहा, क्या आपको पता नहीं है? वह सट्टेबाज है। जब आप कथा में पहली बार हाथ उठाये, तो आपकी उँगलियों को उसने गिन लिया, और उसी अंक पर सट्टा लगाया, तो उसको सफलता मिल गई। बस वह कथा में केवल इतना ही देखने के लिये आता है कि आज आपकी कितनी ऊँगली उठी। अब भला आप जरा सोचिए, मैं नहीं जानता कि यहाँ भी कोई ऐसे श्रोता हैं कि नहीं, मैं कल्पना नहीं करता, पर बात बड़ी विचित्र-सी लगती है!

अब भला सोचिए कि मेरी उँगली से सट्टे के नम्बर का क्या सम्बन्ध है? पर उनकी ऐसी भावना थी। अरे, वह तो एक संयोग की बात रही होगी। किन्तु उनका नित्य यही नियम हो गया कि हमको कथा से क्या लेना-देना, हमें तो बस सट्टे में सफलता मिलनी चाहिए। उँगली दिखाई दे गई, गिना और चले गये। इसका अर्थ यह है कि सुननेवाला भी ठीक होना चाहिए। श्रीरामचरितमानस में कहा गया कि वक्ता से भी अधिक योग्य श्रोता को होना चाहिए।

**श्रोता सुमति सुसील सुचि कथा रसिक हरि दास।**
**पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास।।**
**७/६९ (ख)**

जब ऐसा कोई श्रोता प्राप्त होता है, तो स्वयं ही सज्जन उस तत्त्व को प्रगट करते हैं या यह कहना चाहिए कि स्वयं ही वह तत्त्व प्रगट हो जाता है। जब तक सुननेवाले व्यक्ति में ग्रहण करने की वृत्ति न हो, तब तक उसे लाभ कैसे होगा? सट्टेबाज की बात सुनकर तो हँसी आ गई, हँसी की बात ही थी। हमलोग भी अगर अपने-अपने हृदय को टटोलेंगे, तो वह भूल भिन्न-भिन्न रूपों में सबसे होती है। अधूरा सुनने पर विचित्र स्थिति हो जाती है। पूरी कथा में जो बात कही गई, उसमें से अगर आपने कोई एक वाक्य पकड़ लिया और यह कहा कि आज तो वक्ता ने यही कहा है, तब तो अनर्थ हो सकता है। बहुधा होता यह है कि सुननेवाला व्यक्ति पूरी कथा में जो उनकी दुर्बलताओं का समर्थन करनेवाली कोई बात हो, उनकी धारणाओं का समर्थन करनेवाली कोई बात हो, स्वार्थ का समर्थन करनेवाली कोई बात हो, तो उसी को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेते हैं और यह मान लेते हैं कि यह बात कथा में कही गई है।

वह कमी देवताओं में कितनी है? गोस्वामीजी ने लिखा कि ऐसा लगता है कि जैसे देवता बेचैन हो रहे थे। गोस्वामीजी जो पंक्ति लिखते हैं, उससे कभी-कभी वे एक शब्द के द्वारा बहुत बड़ा सूत्र दे देते हैं। वे लिखते हैं –

**गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।**
**तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।। १/१८६/८**

आकाशवाणी सुनकर देवता लौट गए, उनका हृदय शीतल हुआ। इसके साथ एक शब्द उन्होंने जोड़ दिया और वह शब्द ही बहुत बड़ा संकेत है – 'तुरत फिरे'। 'तुरत फिरे' माने? जब आप अत्यन्त उतावले हों और उतावलेपन से आप कहीं बैठे हुए भी हों, तो आप इस चिंता में रहते हैं कि कब यह समाप्त हो जाय और यहाँ से भागें। वह जो उतावलापन है, उसके लिये गोस्वामीजी ने एक शब्द जोड़ दिया, 'तुरत फिरे'। बिना आदेश लिये ही देवता अपने विमानों की ओर दौड़ने लगे थे। ब्रह्मा ने जब उनका उतावलापन देखा, तो उन्होंने देवताओं को पुन: आमंत्रित किया। उन्होंने कहा कि नियम यह है कि सभा समाप्त हो जाय, तब उठकर जाना चाहिए। अभी जाने को नहीं कहा गया है। उसके बाद ब्रह्मा ने उनसे यह कहा कि क्या आप लोगों ने आकाशवाणी को ध्यान से नहीं सुना? बोले, भगवान ने यही तो कहा है, निर्भय हो जाओ, मत डरो। तो ब्रह्मा ने कहा कि भगवान इतना ही कह देते, तो ठीक था, पर जितनी बातें उन्होंने कही, जितने वाक्य उन्होंने कहा, उनमें कुछ तो तात्पर्य रहा होगा! उन्होंने यह तो बता दिया कि मैं मनुष्य बनूँगा। इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य है? जब उन्होंने कहा कि कश्यप-अदिति दशरथ-कौशल्या के रूप में जन्म लेंगे और मैं वहीं अवतरित होऊँगा, इसका क्या तात्पर्य है? जब उन्होंने कहा कि मैं चार रूपों में जन्म लूँगा, तो उसका तात्पर्य क्या है? जब प्रारम्भ ही उन्होंने किया कि मनुष्य बनूँगा, दशरथ-कौशल्या का पुत्र बनूँगा, चार भाइयों के रूप में जन्म लूँगा, तो क्या रामायण इतनी ही है क्या? आगे जो समस्या है रावण के वध की, उस विषय में तो भगवान ने कुछ नहीं कहा। केवल इतना कह दिया कि मत डरिए। ब्रह्मा विवेक के देवता हैं। मानो विवेक के देवता ने श्रोताओं को सावधान किया कि तुम्हें जो बात अच्छी लगी, केवल उसी को मत सुनो, कहनेवाले ने जिस उद्देश्य से कहा है, उस पर भी तो तुम दृष्टि डालो। उसको भी तो तुम ध्यान से सुनो। उसका अभिप्राय यह है कि भगवान इस समस्या का समाधान ईश्वरीय रूप में नहीं देते, मानव के रूप में दे रहे हैं। उसके साथ-साथ भगवान ने जैसे रामायण को आधे में ही विराम दे दिया। उसका सूत्र ब्रह्मा ने दिया और देवताओं की वृत्ति तो वही है, जो हर स्वार्थी व्यक्ति की होती है। आज भी बहुत-से व्यक्ति हैं, जो महात्माओं से पूछते हैं कि महाराज, क्या करें, कैसे करें! बहुधा यह कह देते हैं कि न हो, तो महाराज, मेरे बदले आप ही यह सब कुछ कर दीजिए। हमें तो आपकी कृपा ही चाहिए। आपकी कृपा से क्या सम्भव नहीं है? आप कृपा कर दीजिए, सब हो जाएगा। यह कहना ठीक

है क्या? कृपा से सब हो जायेगा, यह कह कर अगर कोई आलस्य और तमोगुण का समर्थन करे, तब तो कृपा को ग्रहण करने की न तो उसमें पात्रता है और न ही वह कृपा के तात्पर्य को ठीक-ठीक समझ पाता है। ब्रह्मा ने कहा कि भगवान यह बताना चाहते हैं कि हम समस्या का समाधान उस रूप में करेंगे, जिसके द्वारा मनुष्य ठीक-ठीक प्रेरणा प्राप्त कर सके, क्योंकि वह समस्या केवल एक ही युग में नहीं है। साधक के सामने प्रत्येक युग में, प्रत्येक क्षण में वह समस्या आया करती है। इसलिए भगवान का सूत्रात्मक संकेत यह था कि भगवान भी जब अवतार लेते हैं, तो स्वयं भी अपने चरित्र में साधना को स्वीकार करते हैं। आप लोगों में से जिन्होंने भगवान श्रीरामकृष्ण की जीवनी पढ़ी होगी, वे जानते होंगे कि कैसे उन्होंने विविध साधनाओं को अपने जीवन में किया। साधना का पक्ष तो इतना विस्तृत है कि वह लीलाप्रसंग में विस्तृत रूप से व्यक्त है। वही सन्दर्भ सर्वत्र है। जब भगवान श्रीराम का अवतार होता है, तब भगवान राम गुरु के गृह में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते हैं। भगवान श्रीराम के सारे क्रिया-कलाप को उस दृष्टि से आप विचार करके देखें कि भगवान के चरित्र में साधना है कि नहीं? श्रीसीताजी महाशक्ति हैं –

**उद्‌भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।**
**सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।**

किन्तु वे पार्वतीजी का पूजन करती हैं। भगवान श्रीराम लंका पर आक्रमण करने के लिये शंकरजी की मूर्ति की पूजा करते हैं, तो उसका कोई उद्देश्य होगा न! हमारे अयोध्या के एक बड़े विद्वान, बड़े अध्यनशील थे। उन्होंने जो रामायण प्रकाशित किया है, उसमें से उन्होंने दो प्रसंग निकाल दिये हैं। श्रीसीताजी के द्वारा पार्वतीजी का पूजन और भगवान राम के द्वारा शंकरजी का पूजन। कहने लगे कि हमारे भगवान अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक हैं, भला कहीं वे शंकरजी की पूजा करेंगे? शंकरजी उनके सामने क्या हैं? श्रीसीताजी जो शक्ति की भी महाशक्ति हैं, वे पार्वतीजी की पूजा क्यों करेंगी? कभी-कभी अधिक विद्वत्ता दुराग्रह की सीमा में चली जाती है।

अगर भगवान को मनुष्य को शिक्षा नहीं देनी हो, तो उनको मनुष्य बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब ईश्वर मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं, तो वे भी साधनाओं के विविध पक्ष को अपने चरित्र में स्वीकार करते हैं। जब श्रीसीताजी, भगवान श्रीराम का दर्शन करने के लिए, उन्हें पाने के लिए पार्वतीजी का पूजन करती हैं, तो यों कहना चाहिए कि जैसे एक माता बच्चे को जब कोई पाठ पढ़ाना चाहती है, तो अपनी योग्यता का परिचय न देकर बालक की योग्यता को ध्यान में रखकर, अगर वह बालक को अक्षर लिखना सिखायेगी, तो वह पढ़ सकेगा। वह स्वयं कितना सुन्दर अक्षर लिख सकती है, यह नहीं दिखायेगी, वह तो उस नन्हें बालक का हाथ पकड़ कर एक बड़ा सा 'क' लिखवाएगी, जो अभी टेढ़ा-मेढ़ा भी होगा। 'क' का क्या अर्थ है, वह सब न बताकर अभी तो वह 'क' माने कबूतर ही बताएगी। नन्हें बालक को समझाने के लिए यही आवश्यक है। भगवान ने जब मनुष्य के रूप में अवतार लिया, तब स्वयं ही उन्होंने साधना के पक्ष को स्वीकार कर लिया। ऐसा तो नहीं हो गया कि आ गये अवतरित होकर और सीधे रावण का वध कर दिया। जन्म हुआ, बालक के रूप में धीरे-धीरे बड़े हुए, किशोर हुए, इतनी लम्बी प्रभु ने यात्राएँ की। उन यात्राओं को अगर आप ध्यान से पढ़ें, तो आप समझ सकेंगे। जब भगवान श्रीराम महर्षि भरद्वाज से यह पूछते हैं –

**नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं। २/१०८/१**

महाराज, बताइए मैं किस मार्ग से जाऊँ? ईश्वर को क्या किसी से मार्ग पूछने की आवश्यकता है क्या? अच्छा हुआ, उन विद्वान ने यह प्रसंग भी नहीं निकाल दिया। ये सब निकालना शुरू कर देते, तो शायद रामायण बहुत कम बच जाती। वस्तुत: उन्हें भगवान शंकर पार्वती से ही अधिक द्वेष था। इसलिए उन्होंने उसी प्रसंग को निकाला। पर भगवान तो जहाँ देखिए, महर्षि अगत्स्य से पूछ रहे हैं कि हे मुनि, मुझे उपाय बताइए, मैं रावण को कैसे मारूँ? –

**अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही।**
**जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही।। ३/१२/३**

भगवान शबरीजी से पूछ रहे हैं –

**जनकसुता कइ सुधि भामिनी।**
**जानहि कहु करिबरगामिनी।। ३/३५/१०**

**(क्रमशः)**

# ऑनलाइन शिक्षा और गुरुपूर्णिमा

## स्वामी मेधजानन्द

दो मित्र आधुनिक तकनीकी जगत के बारे में बात कर रहे थे। एक ने कहा, ''आज टेक्नॉलाजी इतनी एडवान्स हो गई है कि मन में कोई भी प्रश्न आ जाए, बस उस प्रश्न को गूगल सर्च में डाल दो, प्रश्न का उत्तर आसानी से मिल जाता है।'' दूसरे ने कहा, ''हाँ भाई, आजकल तो लोग पढ़ने के लिए कॉलेज में नाम मात्र जाते हैं, क्योंकि इतनी सारी ऑनलाइन एजुकेशनल एप्स आ गई हैं, हम घर बैठे अच्छी तरह पढ़ाई कर सकते हैं, और-तो-और उन एप्स के द्वारा आप शिक्षकों से प्रश्न भी पूछ सकते हैं।'' उनकी बातें पास मैं बैठे एक रिटायर्ड शिक्षक सुन रहे थे। उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने कहा, ''हाँ, आजकल इंटरनेट के द्वारा शिक्षा प्राप्त करना बड़ा आसान हो गया है, आप हर क्षेत्र में ज्ञान अर्जित करना चाहते हैं, जिन वस्तुओं की जीवन में आवश्यकता नहीं है, उन विषयों में भी हम जानना चाहते हैं, पर क्या ऐसा नहीं लगता कि सागर में रहकर भी हम एक प्यासे व्यक्ति के समान रह जाते हैं। ऑनलाइन ज्ञान के विशाल भण्डार द्वारा हमारे जीवन की गति तो बहुत तेज हो जाती है, किन्तु हम अपनी दिशा खो बैठते हैं।''

सही बात है, इस इंटरनेट के युग में ज्ञान का मानो विस्फोट हो गया है। किसी भी क्षेत्र में हम बड़ी आसानी से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। पहले के दिनों में हम किसी से प्रश्न पूछते थे, तो वे हमें उसका उत्तर तो बताते थे और इसी बहाने कुछ व्यावहारिक बातों की भी जानकारी मिल जाती थी। आज हम किसी से प्रश्न पूछना नहीं चाहते, अथवा पूछते भी हैं, तो जवाब मिलता है, अरे गूगल में वॉइस सर्च कर लो।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार की जाती है, ''तत्त्वदर्शी गुरु के चरणों में प्रणाम करके, प्रश्न तथा सेवा के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करो और वे ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।'' वैसे देखा जाए, तो लौकिक अथवा पारलौकिक ज्ञान, दोनों गुरु के बिना भी प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु वह ज्ञान अधूरा और भ्रामक होने की बहुत सम्भावना रहती है। शिक्षक अथवा गुरु को उस मार्ग का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसलिए उनके मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। विशेषकर आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु यदि न प्राप्त हों, तो लक्ष्यच्युत होने की बहुत सम्भावना रहती है।

शिक्षक अथवा गुरु के प्रति श्रद्धा रखकर हम जो भी विद्या प्राप्त करते हैं, उस विद्या के साथ हमारे जीवन में थोड़ी-बहुत विनम्रता भी आती है, क्योंकि अपने इस ज्ञान के लिए हम गुरु के प्रति कृतज्ञ रहते हैं। गुरु से कृतज्ञतापूर्वक प्राप्त विद्या का अपने और दूसरों के लिए सदुपयोग कर हम उस विद्या को परिपूर्ण करते हैं। विद्या वही है, जिसके द्वारा हम स्वावलंबी बन सकें और जो हमारे अज्ञान के आवरण दूर कर सके। अनावश्यक ज्ञान का भण्डार मस्तिष्क में ठूसने से वह सड़ान्ध पैदा कर देता है।

एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि शिक्षक अथवा गुरु में क्या अन्तर होता है? वर्तमान शिक्षाक्रम में हमारे अनेक शिक्षक होते हैं, जो हमें विभिन्न लौकिक विषयों की शिक्षा देते हैं। इस शिक्षा के द्वारा हम अपनी आजीविका प्राप्त करने में सक्षम होते हैं और स्वावलंबी बनते हैं। इससे हमारे मन, बुद्धि में जो असीमित सम्भावनाएँ होती हैं, उनका भी विकास होता है। यदि लौकिक विद्या का अर्जन धर्म और नैतिकता का आधार बना कर किया जाए, तो यह हमारे व्यक्तित्व को परिपूर्ण करती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम आदर्श शिक्षा आदर्श शिक्षकों से प्राप्त करें। गुरु शब्द में 'गु' शब्द का अर्थ होता है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ होता है प्रकाश, अर्थात् जो हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाएँ, वे गुरु हैं। गुरु एक व्यक्ति मात्र न होकर एक तत्त्व हैं। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है-पूर्णता को प्राप्त करना और गुरु इसे प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सदैव छोटी-मोटी बातों के लिए अपने गुरु पर निर्भर रहें। एक समय आता है, जब हमारा मन ही हमारा गुरु बन जाता है और गुरु स्वयं भी यही चाहते हैं कि हम स्वनिर्भर हो सकें और उनके द्वारा परम्परा से प्राप्त विद्या को दूसरों को प्रदान कर सकें। वर्तमान में ऑनलाइन शिक्षा द्वारा लौकिक ज्ञानार्जन बड़ा आसान हो गया है। इससे दूर-दराज के गाँव में बैठा हुआ व्यक्ति भी शिक्षार्जन कर सकता है। किन्तु जीवन में ऐसे अनेक मोड़ आते हैं, जहाँ शिक्षक अथवा गुरु की आवश्यकता पड़ती है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके प्रति श्रद्धा निवेदित करें और सदैव उनके प्रति कृतज्ञ रहें।

गुरुपूर्णिमा के पावन दिवस पर लोग अपने गुरु के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं। इसे व्यासपूर्णिमा भी कहा जाता है, क्योंकि इसी दिन व्यासदेव जी का जन्म हुआ था। वेदव्यास ने महाभारत की रचना एवं वेदों का विभाजन किया था। इसके अलावा उन्होंने ब्रह्मसूत्र, अठारह पुराण एवं व्यास-संहिता की भी रचना की थी। ○○○

# साधुओं के पावन प्रसंग (७)

## स्वामी चेतनानन्द

(स्वामी चेतनानन्द जी महाराज से रामकृष्ण संघ के भक्त भलीभाँति परिचित हैं। वर्तमान में महाराज वेदान्त सोसायटी, सेंट लुइस के मिनिस्टर-इन-चार्ज हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त पर अनेक पुस्तकें लिखी और अनुवाद की हैं। प्रस्तुत पुस्तक में रामकृष्ण संघ के महान त्यागी संन्यासियों के संस्मरण हैं, जिनके सम्पर्क में लेखक स्वयं आए थे। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु मूल बंगला से इसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से दिया जा रहा है। – सं.)

अधिकांश लोग शारीरिक गठन के अनुसार व्यक्ति के चरित्र और गुणों का मूल्यांकन करते हैं, किन्तु यह सब समय ठीक नहीं होता। अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन की एक घटना याद आती है। चुनाव के पहले वे और उनके विरोधी नेता डगलास के बीच तर्क-वितर्क हुआ। डगलास ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा, "मित्रो ! लिंकन दो मुँह वाला आदमी है। उसे आप वोट मत दीजिए।" लिंकन ने उत्तर दिया, "मित्रो ! यदि मेरे पास एक और मुख होता, तो क्या मैं यह मुख लेकर घूमता।" उनके कहने का तात्पर्य था कि वे दिखने में बिल्कुल भी सुन्दर नहीं और यदि उनके पास एक और मुख होता, तो वे अपने इस मुख को अवश्य बदल देते। अभी तक अमेरिका में भी जितने राष्ट्रपति हुए हैं, लिंकन के समान प्रेम और विश्वास किसी ने अर्जित नहीं किया।

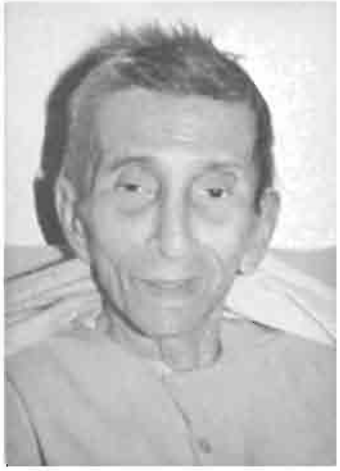
स्वामी वीरेश्वरानन्द

स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज (प्रभु महाराज) का शरीर दुबला-पतला था। यदि कहा जाए, तो बाह्य दृष्टि से वे बिल्कुल भी आकर्षक नहीं थे। किन्तु उनका व्यक्तित्व असाधारण था और बुद्धि प्रखर थी। मैंने १९६० से १९८५ तक की कालावधि में उन्हें देखा है, किन्तु उनके साथ अत्यधिक घनिष्ठ सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अत: मेरे स्मृतिभंडार में महाराज से सम्बन्धित घटनाएँ बहुत अधिक नहीं हैं, तो भी जितनी हैं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

मैं जब मठ में सम्मिलित हुआ, तब स्वामी वीरेश्वरानन्द जी मठ-मिशन के सह-महासचिव थे। वे बेलूड़ मठ के गिरीश मेमोरियल के ऊपर एक छोटे कमरे में रहते थे। १९६१ में स्वामी शंकरानन्द जी महाराज से दीक्षा प्राप्त करने के बाद मैं स्वामी वीरेश्वरानन्द जी के पास प्रणाम करने गया और उनसे साधु-जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहने का अनुरोध किया। उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, साधु-जीवन ठीक-ठीक गढ़ने के लिए अनेक प्रश्न और उपदेशों की आवश्यकता नहीं। तुम स्वामी ब्रह्मानन्द जी की 'ध्यान, धर्म तथा साधना' तथा स्वामी तुरीयानन्द जी की 'साधकों के नाम पत्र' पुस्तक पढ़ो, तो सब समझ जाओगे।" उनके कहे अनुसार मैंने इन दोनों पुस्तकों को अपने अध्यात्म-जीवन का संगी बनाया। अनेक साधु केवल उपदेश देते हैं, किन्तु राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) स्वानुभूति से जो बात कहते हैं, वह हृदय में बींध जाती है। अध्यात्म-जीवन में मन का प्रवाह जब निम्नगामी भाटा का रूप धारण कर ले, जिसे ज्ञानियों की भाषा में Dark night of the soul कहते हैं, तब स्वामी तुरीयानन्द जी के पत्र भाटा को दूर कर ऊर्ध्वगामी ज्वार ला देते हैं। परवर्तीकाल में मैंने इन दोनों मूल बंगाली पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया – A guide to spiritual life और Spiritual treasures.

१९६२ में स्वामी माधवानन्द जी संघाध्यक्ष पद पर आसीन हुए और स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महासचिव हुए। मैं तब अद्वैत आश्रम में ब्रह्मचारी था। एक दिन उन्होंने मुझे डेढ़ पाव दूध का पात्र खरीदने के लिए कहा। मैं चाँदनी चौक गया और डेढ़ पाव का पात्र न मिलने के कारण आधे सेर वाले काँसे के ढक्कन वाला पात्र लेकर उनके पास गया। उन्होंने कहा, "नहीं, यह पात्र थोड़ा बड़ा है, तुम डेढ़ पाव माप वाला पात्र खरीद कर लाओ।" फिर कोलकाता के चाईना बाजार, चाँदनी चौक घूमा, किन्तु उस माप का पात्र न पाकर दो-तीन माप के पात्र लेकर मठ आया। मैंने कहा, "इतने माप के ही पात्र हैं। आपकी दी हुई माप का पात्र बाजार में नहीं है।" उन्होंने अनिच्छापूर्वक वह आधे सेर का पात्र लिया। बाद में पता लगा कि वे वह पात्र मठ के रसोईघर में भेजकर दूध मँगाते थे। मठ के अन्य साधुओं

को जितना दूध मिलता है, उससे वे अधिक नहीं लेना चाहते थे। वे महासचिव थे, और मठ के भंडारी यदि पूरा पात्र भरकर उन्हें दूध देते, तो अन्य साधुओं को कम दूध मिलता। इसके अलावा मठ में उस समय पर्याप्त दूध नहीं रहता था। घटना बहुत सामान्य है, किन्तु अन्य साधुओं के प्रति उनके प्रेम और उदारता को प्रदर्शित करती है।

एक दिन उन्होंने मुझसे किसी विषय में जानकारी चाही। मैं ठीक उत्तर न देते हुए बोला, "It seems to be this." – यह ऐसा होना चाहिए। वे थोड़ा अप्रसन्न होकर बोले, "Never say, 'It seems', 'I think so' and all such vague words. Either say 'I know' or 'I don't know.' कभी भी इस प्रकार के अस्पष्ट शब्द मत कहो कि 'ऐसा लगता है', 'मैं ऐसा मानता हूँ।' यदि कहना है, तो कहो कि 'मैं जानता हूँ' अथवा 'मैं नहीं जानता हूँ।' तुम जो बोलोगे, उसके अनुसार मैं एक निर्णय लूँगा। यदि तुम्हारी बात गलत होगी, तो मेरा लिया हुआ निर्णय भी गलत होगा।'' मुझे एक अद्भुत शिक्षा प्राप्त हुई।

एक दिन मैं अद्वैत आश्रम, कोलकाता से बेलूड़ मठ गया। मैंने महाराज से पूछा, ''कैसे हैं, महाराज?'' वे अप्रसन्न होकर बोले, ''देखते नहीं, मैं काम कर रहा हूँ।'' वे इस प्रकार के प्रश्न पसन्द नहीं करते थे।

वे बहुत मिताहारी थे और पंछी की तरह थोड़ा-थोड़ा खाते थे, किन्तु चाय अथवा कॉफी बहुत गरम पीते थे – इतनी गरम कि अन्य किसी व्यक्ति का मुँह जल जाए। महाराज के कहे अनुसार मैं कभी-कभी कोलकाता की न्यू मार्केट से उनके लिए अदरक की गोलियाँ खरीद कर लाता। वे तिक्त अदरक की गोलियाँ खाना पसन्द करते थे। १९६४ में मैं प्रशिक्षण केन्द्र, बेलूड़ मठ में था। तब श्रीरामकृष्णदेव के किसी अन्तरंग शिष्य की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में हम सब उन्हें प्रणाम करने गए। वे जानते थे कि शाम के नाश्ते में हमारे लिए चाय छोड़कर कुछ नहीं रहता था। उस दिन उनके पास दक्षिण भारत से मुरक्कु, चनाचूर इत्यादि बहुत-सी सामग्री आई थी। उन्होंने मुझसे बाद में मिलने के लिए कहा। शाम को जब मैं गया, तो उन्होंने हम सबके लिए वे सारी चीजें चाय के साथ खाने के लिए दीं। हम सब के प्रति उनकी इस करुणा से मैं अभिभूत हो गया। परवर्तीकाल में जब वे संघाध्यक्ष हुए, तब अमेरिका से मैंने उनके पास (एक भक्त द्वारा प्रदत्त) बारह हजार डॉलर भेजे और लिखा कि इस राशि का प्रशिक्षण केन्द्र के ब्रह्मचारियों के शाम के स्वल्पाहार के लिए उपयोग हो। उन्होंने उत्तर दिया, ''तुमने जिस हेतु रुपये भेजे हैं, उन्हें उसी उद्देश्य के लिए खर्च किया जाएगा। तो भी तुम्हारी जानकारी के लिए बता देता हूँ कि ब्रह्मचारियों के शाम के स्वल्पाहार की व्यवस्था अब हो गई है। **(क्रमश:)**

---

पृष्ठ ३०१ का शेष भाग

से ही – सर्वदा उनमें कुछ विशिष्ट तत्त्वों की सम्भावना देखी थी – अर्थात् मुझे संकेत मिले थे कि उन्हें कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं और वे मुझे उनकी कुंजी प्रदान करेंगे। बाद में वह बात सत्य प्रमाणित हुई। वस्तुत: भयंकर की उपासना – अब क्रमश: और भी प्रबल हुई है और अभी हाल ही में उन्होंने मुझे अपनी व्यक्तिगत कुंजी और पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की है – परन्तु यह चीज उनमें सदा से ही विद्यमान थी। मेरे बताने पर तुम इसके प्रत्येक शब्द को सत्य मानोगी, परन्तु जब मैं इन्हें मेरी हेल से कहती हूँ, तो उसे स्वामीजी की इन सहज तथा सामान्य बातों की धारणा करने में भी कठिनाई होती है।

अहा, इन महान भावों के प्रकाश में सामान्य जीवन – कितना सामान्य प्रतीत होता है! क्यों, ऐसा ही है न?

हिन्दू लोग – मुक्त आत्माओं तथा बद्ध आत्माओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं – वे नौकाएँ जो तट पर बँधी हुई हैं और वे – जो तीव्र वेग से सूर्य के आलोक की ओर अग्रसर हो रही हैं – वह जीवन, जो परिस्थितियों तथा स्वार्थ से बँधा हुआ है और वह जीवन, जो सर्वोच्च (परमात्मा) को अर्पित किये जाने के लिये स्वाधीन है! यह इतना सत्य और इतनी गहराई से स्वाभाविक प्रतीत होता है कि मैं स्तब्ध होकर स्वयं से पूछती हूँ – क्या मैं सचमुच ही मुक्त हूँ? मैं तो सदा से ही मुक्त रही हूँ – अब तक केवल इसके विषय में अनजान थी! ...

वस्तुत: एक दृष्टि से कहें, तो मुक्ति पहले से ही थी, परन्तु दूसरी दृष्टि से मुक्ति उस दिन प्राप्त हुई, जिस दिन सेंट सारा और मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिया गया। इस दृष्टि से भी – चूँकि तुम पहले से ही मुक्त हो, इसीलिये तुम्हें व्रतों आदि में शामिल नहीं किया गया था। **(क्रमश:)**

# दृग्-दृश्य-विवेकः (२)

**(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)**

(यह ४६ श्लोकों का 'दृग्-दृश्य-विवेक' नामक प्रकरण ग्रन्थ 'वाक्य-सुधा' नाम से भी परिचित है। इसमें मुख्यत: 'दृश्य' के रूप में जीव-जगत् की और 'द्रष्टा' के रूप में 'आत्मा' या 'ब्रह्म' पर; और साथ ही 'सविकल्प' तथा 'निर्विकल्प' समाधियों पर भी चर्चा की गयी है। ग्रन्थ छोटा, परन्तु तत्त्वबोध की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है। ज्ञातव्य है कि इसके १३वें से ३१वें श्लोकों के बीच के आनेवाले १६ श्लोक 'सरस्वती-रहस्य-उपनिषद्' में भी प्राप्त होते हैं। मूल संस्कृत से इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है – सं.।)

**चित्-छाया का तादात्म्य**

**चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता ।**
**एकाहंकृतिरन्या स्यादन्त:करण-रूपिणी ॥६॥**

अन्वयार्थ – **बुद्धौ** बुद्धि में **चिच्छाया** चेतना की छाया **आवेशतः** के प्रवेश से **भानं** बोध **भवति** होता है; **धीः** बुद्धि **तु द्विधा** दो तरह से **स्थिता** स्थित रहती है, **एका** एक **अहंकृतिः** अहंकार (कहलाती) **स्यात्** है (और) **अन्या** दूसरी **अन्तःकरण-रूपिणी** अन्त:करण के रूप में।

**भावार्थ** – बुद्धि में चेतना की छाया के प्रवेश से ज्ञान होता है। बुद्धि दो तरह से स्थित रहती है, (इनमें से) एक अहंकार और दूसरी अन्त:करण के रूप में प्रतिभात होती है।

**छायाहंकारयोरैक्यं तप्ताय:पिण्डवन्मतम् ।**
**तदहंकार-तादात्म्याद्देहश्चेतनतामगात् ॥७॥**

अन्वयार्थ – (ज्ञानियों का) **मतम्** मत है कि **तप्त-अयः पिण्डवत्** तप्त लौहपिण्ड के समान ही **छाया-अहंकारयोः** (चैतन्य की) छाया तथा अहंकार का **ऐक्यं** तादात्म्य होता है; **तत्** इस **अहंकार** अहंकार के **तादात्म्यात्** तादात्म्य से **देहः** देह **चेतनताम्** चेतनता को **अगात्** प्राप्त हुआ है।

**भावार्थ –** (ज्ञानियों का) मत है कि (चैतन्य की) छाया तथा अहंकार का तादात्म्य भाव – अग्नि तथा लौहपिण्ड के तादात्म्य के समान है। (चिदाभास तथा) अहंकार के तादात्म्य से शरीर चेतनता को प्राप्त हुआ है।

**अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छाया-देह-साक्षिभिः ।**
**सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात् ॥८॥**

अन्वयार्थ – **अहंकारस्य** अहंकार का **चिच्छाया-देह-साक्षिभिः** चिदाभास, देह तथा साक्षी के साथ **तादात्म्यं** तादात्म्य होने से **क्रमात्** क्रमश: **सहजं** सहज, **कर्मजं** कर्मजनित **च** तथा **भ्रान्तिजन्यं** भ्रान्तिजनित – **त्रिविधं** तीन प्रकार के (तादात्म्य **भवति** होते हैं)।

**भावार्थ –** चिदाभास, देह तथा साक्षी के साथ अहंकार का तादात्म्य होने से – एक-एक करके सहज, कर्मजनित तथा भ्रान्तिजनित – ये तीन प्रकार के (तादात्म्य होते हैं)।

**तादात्म्य का नाश**

**सम्बन्धिनोस्सतोर्नास्ति निवृत्तिस्सहजस्य तु ।**
**कर्मक्षयात् प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ॥९॥**

अन्वयार्थ – **सम्बन्धिनोः** (चैतन्य का आभास तथा अहंकार, इन) दोनों सम्बन्धियों के **सतोः** रहते हुए **सहजस्य** सहज-स्वाभाविक (**तादात्म्यस्य** तादात्म्य की) **निवृत्तिः** निवृत्ति **नास्ति** नहीं होती, **तु** परन्तु **कर्मक्षयात्** कर्मफलों का क्षय **च** तथा **प्रबोधात्** ज्ञान का उदय हो जाने पर, **उभे** दोनों सम्बन्धियों का **क्रमात्** क्रमश: **निवर्तेते** लोप हो जाता है।

**भावार्थ** – (चैतन्य का आभास तथा अहंकार, इन) दोनों सम्बन्धियों के रहते हुए सहज-स्वाभाविक (तादात्म्य) की निवृत्ति नहीं हो सकती; कर्मफलों का क्षय तथा ज्ञान का उदय हो जाने पर, इन दोनों सम्बन्धियों का क्रमश: लोप हो जाता है।

**अहंकार का लय**

**अहंकार-लये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः ।**
**अहंकार-विकासार्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥१०॥**

अन्वयार्थ – **सुप्तौ** निद्रावस्था में, **अहंकार-लये** अहंकार का लय हो जाने पर **देहः** देह **अपि** भी **अचेतनः** अचेतन **भवेत्** हो जाती है; **अहंकार-विकास-अर्धः** अहंकार का आधा विकास **स्वप्नः** स्वप्न (**भवति** है), **तु** परन्तु **सर्वः** पूर्ण (विकास) **जागरः** जाग्रत अवस्था (**भवति** है)।

**भावार्थ** – निद्रावस्था में, अहंकार का लय हो जाने पर देह भी अचेतन हो जाती है; अहंकार का आधा विकास स्वप्न है, परन्तु पूर्ण (विकास) जाग्रत अवस्था है।

**अन्त:करण का स्वरूप**

शेष भाग पृष्ठ ३३० पर

# सेवा और चित्तशुद्धि

**स्वामी ओजोमयानन्द**
**रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा**

महाभारत में एक प्रसंग आता है कि रात्रि में युधिष्ठिर छिपकर कहीं चले जाया करते हैं और तीसरे प्रहर तक लौट आते हैं। अन्य भाइयों के द्वारा इस सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने कहा कि वे व्यक्तिगत उपासना हेतु जाते हैं। पर एक दिन नकुल, सहदेव आदि ने यह निश्चय किया कि वे इस रहस्य का पता लगाकर ही रहेंगे। उस रात युधिष्ठिर के शिविर से निकलते ही वे छिपकर उनके पीछे जाने लगे। युद्धस्थल पर पहुँचकर युधिष्ठिर वहाँ पड़े हुए घायल सैनिकों की सेवा करने लगे। वे अपनी चादर के अंदर छिपाकर अन्न-जल व औषधि लेकर आये थे। युद्ध स्थल में गिरा सैनिक कौरव पक्ष का हो या पाण्डव पक्ष का, वे यथासम्भव उन सबकी सेवा करने लगे। किसी के घावों में औषधि लगायी, तो किसी को पानी पिलाया, किसी को भोजन कराया, तो किसी को सान्त्वना दी। यह देखकर उनके अनुज आश्चर्यचकित रह गये। तब वे युधिष्ठिर के सामने उपस्थित हो गये और हाथ जोड़कर बोले – ''तात ! आप यहाँ छिपकर क्यों आये?'' युधिष्ठिर ने कहा – ''मेरे प्रिय अनुजो ! यदि मैं यहाँ भेष बदलकर नहीं आता, तो ये अपनी पीड़ा या दुख मुझे खुलकर नहीं कह पाते और मैं सेवा के सौभाग्य से वंचित रह जाता। इस पर भीम ने कहा – ''फिर भी भ्राता ! शत्रु तो शत्रु है। क्या उनकी सेवा करना उचित है?'' युधिष्ठिर बोले – ''बन्धु ! पाप और अधर्म शत्रु होता है। मनुष्य नहीं, आत्मा का आत्मा से क्या द्वेष?'' यह सुनकर भीम सन्तुष्ट हो गये, किन्तु नकुल के मन में अभी भी एक जिज्ञासा रह गयी थी। उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा – ''तात ! आप तो कहते थे कि यह समय आपकी उपासना का है? आप उपासना करने कहाँ जाते हैं?'' तब युधिष्ठिर ने अत्यन्त सुन्दर उत्तर देते हुए कहा – ''अभी यही मेरा उपासना-स्थल है। दुखियों-पीड़ितों की सेवा करना ही सच्ची उपासना है और मैं इस समय वही कर रहा हूँ।' उत्तर सुनने के पश्चात् तीनों भाई युधिष्ठिर के सामने नतमस्तक हो गये।

ऐसी ही एक समतुल्य घटना त्रेतायुग में आती है, जब लक्ष्मणजी शक्तिबाण से आहत होकर मूर्छित हो जाते हैं और सुषेण वैद्य को लंका से लाया जाता है। तब सुषेण वैद्य कहते हैं कि लक्ष्मण शत्रु पक्ष के हैं, अत: उन्हें शत्रु पक्ष के व्यक्ति की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। तब नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों के पश्चात् यह सिद्धान्त सामने आता है कि वैद्य का धर्म रोगी की सेवा है। उसका कोई शत्रु नहीं होता।

यदि किसी गाँव में बाढ़ आ जाये, तब प्रभावित लोगों को बचाना ही उचित सेवा है। वहाँ यह नहीं सोचना चाहिए कि डूबते हुए लोगों में कितने गुणी हैं और कितने नहीं। यदि किसी व्यक्ति को सहायता चाहिए, तो हमें उसे सहायता देनी चाहिए। अत: सेवा किसी भी व्यक्ति की की जा सकती है और वह सदैव उचित है। परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि किसी अनैतिक या अकल्याणकारी या अधार्मिक कार्य को पूर्ण करने के लिए की गई सेवा या सहायता अनुचित होती है। जैसे किसी भ्रष्टाचारी को उसके भ्रष्ट कार्य में सहायता प्रदान करना, चोर को उसकी चोरी में सहायता देना, किसी हत्यारे को हत्या करने में सहयोग देना आदि अनुचित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सेवा कल्याणकारी होनी चाहिए। अत: जहाँ द्वन्द्व हो वहाँ नैतिकता, धर्म, मानवता तथा सर्वकल्याणकारी विषयों पर विचार करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – ''मैं यह फिर कहे देता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ कर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायेगा और फिर शिव, जो प्रत्येक हृदय में वास करते हैं, प्रकट हो जायेंगे।''[१]

### सेवा कैसे करें?

**(क) शिव ज्ञान से जीव सेवा –** मानव जाति की सेवा करना विशेषाधिकार है, क्योंकि यह ईश्वर की उपासना है। ईश्वर यहीं है, इन सब मानवीय आत्माओं में है। वह मनुष्य की आत्मा है।'[२] ऐसे अद्‌भुत विचारों को हमारे दैनन्दिन जीवन में क्रियान्वित कर स्वामी विवेकानन्द जी ने हमें एक अद्‌भुत सेवाभाव से अवगत कराया है। इसे हम

आगे विस्तार से वर्णन करेंगे।

**(ख) मानसिक सेवा –** कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि हमारे पास धन या सामग्री नहीं है, तो हम सेवापरायण कैसे हों। पर धन आदि से कहीं अधिक व्यक्ति मानसिक रूप से शान्ति प्रदान कर सेवा कर सकता है। किसी दुखी व्यक्ति की यदि हम कुछ भी सहायता न कर सकें, परन्तु उनके दुख की बात ही सुन लें, तो भी उसका दुख थोड़ा हल्का हो जाता है। आजकल परिवारों में इस मेल-मिलाप का ही अभाव हो गया है। यदि हम सब थोड़ा समय अपने परिवार के सदस्यों को दें, तो मन से टूटने वाले व्यक्ति में आशा की नई किरणें फूट पड़ती हैं, बड़ों के अनुभव छोटों को दिशा देते हैं, दुखी व्यक्ति का दुख बँट कर कम हो जाता है। किसी के लिये की गई प्रार्थना उसे मानसिक शान्ति देती है। भारतीय संस्कृति में प्रार्थनाओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वे सर्वकल्याणकारी हैं। यदि हम आन्तरिक होकर सबके कल्याण हेतु प्रार्थना करें, तो यह हमें तथा औरों को भी शान्ति प्रदान करेगी। इस प्रकार हम बिना किसी व्यय के भी समाज की सेवा कर सकते हैं। आइए, हम मन से ऐसी प्रार्थना कर सेवा करें –

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।।**[३]

अर्थात् सभी प्राणी सुखी हों, सभी रोगमुक्त रहें, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी हों और किसी को भी दुख का भागी न बनना पड़े।

**(ग) वाक् सेवा –** कुछ लोग जीवन में असफलताओं और प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण निराशामय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। ऐसे समय में यदि कोई उन्हें सकारात्मक विचारों से अनुप्राणित कर दे, तो उनमें साहस और शक्ति का संचार हो जाता है। इस प्रकार वे प्रगति करने लगते हैं, उनमें निराशा के बीच आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं। इसी वाक् सेवा के माध्यम से कुछ महापुरुषों ने परतंत्र भारत में स्वतंत्रता की लहरें बहा दी थीं। इसी वाक् सेवा के द्वारा न जाने कितने शिक्षकों ने अपने आदर्श जीवन के सैद्धान्तिक वचनों से कितने ही महापुरुषों का निर्माण किया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का संशय दूर किया था।

आइए, वाक् सेवा को हम एक उदाहरण से समझें। एक डॉक्टर थे और उनका एक अस्पताल भी था। वहाँ वे शल्य चिकित्सा (आपरेशन) किया करते थे। उनकी एक पत्नी थी, जिन्हें चिकित्सा विज्ञान का कोई विशेष ज्ञान नहीं था। पर वे प्रतिदिन सुबह अपने डॉक्टर पति के साथ अस्पताल जाया करती थीं। डॉक्टर अस्पताल पहुँचकर चिकित्सा आदि कार्यों में लग जाया करते थे और उनकी पत्नी अस्पताल में भर्ती रोगियों से मिलकर उनका हाल-चाल पूछा करतीं और उन्हें सांत्वना दिया करती थीं। चिकित्सा करना एक प्रकार की सेवा है, पर प्रेम से किसी का हालचाल पूछकर उसे सांत्वना देना भी एक प्रकार की सेवा है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – "एक स्त्री बिलख-बिलखकर रो रही है, इतने में एक दूसरी स्त्री आ जाती है और वह उससे कुछ सान्त्वना के शब्द कहती है। प्रभाव यह होता है कि वह रोती हुई स्त्री उठकर बैठ जाती है, उसका दुख दूर हो जाता है और वह मुस्कराने भी लगती है। देखो तो, शब्द में कितनी शक्ति है। उच्च दर्शन में जिस प्रकार शब्द-शक्ति का परिचय मिलता है, उसी प्रकार साधारण जीवन में भी। इस शक्ति के सम्बन्ध में विशेष विचार और अनुसंधान न करते हुए ही हम रात-दिन इस शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। इस शक्ति के स्वरूप को जानना तथा इसका उत्तम रूप से उपयोग करना भी कर्मयोग का एक अंग है।"[४]

**(घ) कायिक सेवा –** कुछ लोग ठेले में लोहे के मोटे छड़ ले जा रहे थे। मार्ग में चढ़ाव सामने देखकर उन लोगों ने पहले से ही ठेले को तीव्र गति से धकेलना प्रारम्भ कर दिया। पर जब वे लगभग चढ़ाव के अति पड़ाव पर पहुँचने ही वाले थे कि ठेला थम गया। वहाँ पाँच-छः नवयुवक अपनी मोटर साइकिल खड़ी कर आपस में गप्पें लगा रहे थे। ठेलेवालों को अब ठेले को धकेल कर चढ़ाव को पार कर पाना असंभव लगने लगा। अत: वे नवयुवकों से सहायता माँगने लगे। यदि ठेले को चढ़ाव के उस पार नहीं किया गया, तो ठेला तीव्र वेग से वापस चला जायेगा और एक बड़ी दुर्घटना घट सकती है, पर यह जानते हुए भी उनमें से कोई भी नवयुवक वहाँ सहायतार्थ नहीं गया, क्योंकि ठेला धकेलना उन्हें छोटा कार्य लग रहा था। तभी वहाँ से गुजर रहे एक साधु ने दूर से स्थिति भाँप ली और दौड़ते हुए आकर उस ठेले को धकेलकर उसे पार करने में उन लोगों की सहायता की। समय आने पर हम कम-से-कम ऐसी शारीरिक सहायता तो अवश्य ही कर सकते हैं। पर खोखले मान-सम्मान को अधिक महत्त्व देकर हम

ऐसी सेवाओं से स्वयं को वंचित कर लेते हैं। दुर्घटना में मूर्छित व्यक्ति को अस्पताल तक पहुँचाना, अन्धे व्यक्ति को रास्ता पार कराना, वृद्ध व्यक्ति को बस, ट्रेन आदि से चढ़ने या उतरने में सहायता करना, इस प्रकार की कायिक सेवा के अवसर हमारे इर्द-गिर्द आते ही रहते हैं और हमें उन्हें यथासम्भव करने का प्रयास भी करना चाहिए।

**(च) सेवा हेतु हृदय की आवश्यकता –** सेवा के लिये धन, सामग्री से अधिक मानसिकता या हृदय की आवश्यकता होती है। स्वामी अखण्डानन्द जी ने दुर्भिक्ष पीड़ित मुर्शिदाबाद में अनवरत राहत कार्य चलाना चाहा, तो उनके दो गुरुभ्राताओं ने अर्थाभाव के कारण उसे बंद कर देने को कहा। जब यह समाचार स्वामी विवेकानन्द जी महाराज को मिला, तब उन्होंने प्रोत्साहित करते हुए लिखा "शाबाश ! ... धन की चिन्ता न करो, वह आसमान से बरसेगा। ... जो लोग यह समझते हैं कि सहायता मिलने पर कार्य प्रारम्भ किया जाय, उनसे कोई कार्य नहीं हो सकता। जो यह समझते हैं कि कार्यक्षेत्र में उतरने पर अवश्य सहायता मिलेगी, वे ही कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।"[५] सेवा करनेवाले के लिए सर्वप्रथम आन्तरिक इच्छा की आवश्यकता होती है। अन्यथा लोगों के पास करोड़ों रुपए होते हुए भी वे सेवा नहीं कर पाते, और तो और धन पाकर इतने लोभी हो जाते हैं कि भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाते हैं। वहीं हृदयवान व्यक्ति किसी भी प्रकार से सेवा कर ही लेते हैं। ऐसे ही प्रेरक व्यक्तित्व की धनी थीं - बिन्नी बाई सोनकर। बिन्नी बाई नाम की यह महिला सब्जी बेचकर अपना जीवन निर्वाह किया करती थीं। आर्थिक अभावों के कारण वह पढ़-लिख नहीं सकीं, पर अभावों के रहते दूसरे बच्चे भी शिक्षा से वंचित न रह जायें, इसलिये उन्होंने शहर की अपनी एक कीमती जमीन दान कर दी और सब्जी बेचते हुए जो एक-एक पैसे जोड़कर धन संग्रह किया, उससे पाठशाला का निर्माण करवा दिया। इसी प्रकार स्वयं झोपड़ीनुमा मकान में रहते हुए उन्होंने कई ऐसे सामाजिक कार्यों में सहायता की। इन सब कार्यों के उपरान्त भी वे कभी नाम-यश के लिये किसी अखबार आदि या किसी प्रकार की शासकीय सुविधा आदि लेने से सदैव दूर रहते हुए आजीवन सामाजिक सेवा करती रहीं। आज भी छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर में लोग उन्हें नगर माता के रूप में स्मरण करते हैं। अत: ऐसे प्रेरक जीवनों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि सेवा के लिए सर्वप्रथम हृदय की आवश्यकता होती है।

**(छ) नि:स्वार्थ सेवा –** गोस्वामी तुलसीदास जी की यह चौपाई नि:स्वार्थ सेवा की भावना को व्यक्त करती है –

**संत बिटप सरिता गिरि धरनी।**
**पर हित हेतु सबन्ह कै करनी।।**[६]

अर्थात् संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी, इन सबकी क्रिया परहित के लिये ही होती है। जिस प्रकार इनके परहित करने के पीछे उनके स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं होता, उसी प्रकार हमें भी स्वार्थरहित होकर सेवा करनी चाहिए। नि:स्वार्थ सेवा ही श्रेष्ठ सेवा है। सेवा करने के समय हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इस सेवा के द्वारा हमें क्या लाभ होगा। लाभ के विषय में सोचना ही स्वार्थ का लक्षण है। अत: हमें सेवा के समय सदैव यह देखना चाहिए कि क्या सेवा के द्वारा मेरे हृदय में उदारता आ रही है? क्या मेरा उद्देश्य सर्वकल्याणकारी है और इससे किसी को कोई हानि तो नहीं पहुँचेगी?

सेवा करनेवाले का यदि सेवा के पीछे कुछ स्वार्थ छिपा हो, तो ऐसी सेवा से उसे कभी सुख नहीं मिलता, परन्तु सेवा के पीछे कुछ स्वार्थ न छिपा हो, तो वह सेवा पानेवाले और सेवा करनेवाले दोनों को सुख-प्रदान करती है। पिता अपनी संतान की व्यवस्था इसलिये करता है कि बड़ा होकर वह मेरी देखभाल करेगा, यह भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। अधिकांशत: मनुष्य उनकी सेवा करना चाहते हैं, जिनकी सेवा से भविष्य में उन्हें कुछ लाभ होने वाला है। जैसे पिता का संतान की सेवा करना, किसी कर्मचारी की अपने अधिकारी की सेवा करना आदि। परन्तु संतान अपने माता-पिता की सेवा नहीं करना चाहता, क्योंकि अब वे वृद्ध हो चुके हैं, कर्मचारी सेवानिवृत्त अधिकारी की सेवा नहीं करता, क्योंकि अब वे उनके हित में कुछ नहीं कर सकते। ऐसी सेवा वास्तव में सेवा नहीं, पूर्णत: स्वार्थ है। अत: जिस प्रकार प्रेम के लिये ही प्रेम करना चाहिए, भक्ति के लिये ही भक्ति करनी चाहिए, उसी प्रकार सेवा के लिये ही सेवा करना ही सच्ची सेवा है, किसी अन्य उद्देश्य के लिये नहीं।

**(ज) निरहंकार भाव से सेवा –** 'मैं सेवा करके किसी का उपकार करता हूँ', ऐसा सोचना भी एक प्रकार का अहंकार ही है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – "यह

सोचना कि मेरे ऊपर कोई निर्भर है तथा मैं किसी का भला कर सकता हूँ, अत्यन्त दुर्बलता का चिह्न है। यह अहंकार ही समस्त आसक्ति की जड़ है और इस आसक्ति से ही समस्त दुखों की उत्पत्ति होती है। हमें अपने मन को यह भलीभाँति समझा देना चाहिए कि इस संसार में हमारे ऊपर कोई भी निर्भर नहीं है।''[७] ''अतएव अपने मन से यह विचार निकाल दो कि तुम्हें इस संसार के लिये कुछ करना है। संसार को तुम्हारी सहायता की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का यह सोचना निरी मूर्खता है कि वह संसार की सहायता के लिए पैदा हुआ है। यह केवल अहंकार है, निरी स्वार्थपरता है, जो धर्म की आड़ में हमारे सामने आती है। जब तुम्हारे मन में, इतना ही नहीं, बल्कि तुम्हारी नाड़ियों और मांसपेशियों तक में यह शिक्षा भलीभाँति भिद जायेगी कि संसार तुम्हारे अथवा अन्य किसी के ऊपर निर्भर नहीं है, तो कर्म से तुम्हें फिर किसी प्रकार की दु:खरूपी प्रतिक्रिया नहीं होगी। यदि तुम किसी मनुष्य को कुछ दे दो और उससे किसी प्रकार की आशा न करो, यहाँ तक कि उससे कृतज्ञता प्रकाशन की भी इच्छा न करो, तो यदि वह मनुष्य कृतघ्न भी हो, तो भी उसकी कृतघ्नता का कोई प्रभाव तुम्हारे ऊपर न पड़ेगा, क्योंकि तुमने तो कभी किसी बात की आशा ही नहीं की थी और न यही सोचा था कि तुम्हें उससे बदले में कुछ पाने का अधिकार है। तुमने तो उसे वही दिया, जो उसका प्राप्य था। उसे वह चीज अपने कर्म से ही मिली और अपने कर्म से ही तुम उसके दाता बने। यदि तुम किसी को कोई चीज दो, तो उसके लिये तुम्हें घमण्ड क्यों होना चाहिए? तुम तो केवल उस धन अथवा दान के वाहक मात्र हो और संसार अपने कर्मों द्वारा उसे पाने का अधिकारी है। फिर तुम्हें अभिमान क्यों हो?[८]

**(झ) अपेक्षारहित सेवा –** श्री वाचस्पति मिश्र ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे। दीपक में तेल कम हो जाने के कारण प्रकाश कुछ मंद पड़ गया। इसी बीच एक वृद्धा ने आकर दीपक में तेल भर दिया तथा वह बत्ती से गुल हटाने लगी, पर ऐसा करते हुए दीपक बुझ गया। मिश्रजी का लिखना अँधेरे के कारण रुक गया। वृद्धा तुरन्त बत्ती जलाकर वहाँ से जाने लगी, तब मिश्रजी ने आश्चर्यचकित होकर उस देवी का परिचय पूछा। तब वृद्धा क्षमा माँगते हुए वहाँ से जाने लगी। जब मिश्रजी दृढ़तापूर्वक उनसे आग्रह करने लगे, तब उस वृद्धा ने बताया कि वे उनकी अर्धांगिनी हैं। तब मिश्रजी का कौतुहल और बढ़ गया और उन्होंने पूछा कि हमारा विवाह कब हुआ था और इससे पहले मैंने आप को क्यों नहीं देखा? तब उस वृद्धा ने कहा कि पचास वर्ष पूर्व हमारा विवाह हुआ था। उस समय आपने एक हाथ से मेरा हाथ थामा था तथा दूसरे हाथ में ये पोथी-पत्रे थे। तब से आज तक आप एकाग्र होकर इस कार्य में लीन रहे हैं। जिस प्रकार आप अपने अध्ययन में व्यस्त रहा करते थे, उसी प्रकार मैं आपकी व्यवस्था में लगी रहती थी। प्रात: आपके उठने से पूर्व ही आपके लिये शौच-स्नान का जल रखने से लेकर रात्रि शयन तक की व्यवस्था करने में मैं व्यस्त रहती थी। दोपहर के अवकाश के समय पड़ोस की लड़कियों को बेल-बूटे निकालना और संगीत सिखाने से हमारी आजीविका का प्रबन्ध हो जाता है। मिश्रजी ने पुन: प्रश्न किया – अब तक मैंने तुमको कभी क्यों नहीं देखा? वृद्धा ने उत्तर दिया कि आँखों के समक्ष कुछ हो तब भी आँखें नहीं देखतीं, उसके लिये तो आँखों के साथ मन का योग होना आवश्यक है, पर आपका मन तो सदैव अध्ययन और विचारों में लीन रहता था, इसलिए आपने मुझे कभी नहीं देखा।

मिश्रजी – आपका नाम?

वृद्धा - भामती

मिश्रजी – हे देवी ! हे भामती ! मुझे क्षमा करो। मैं आपका अपराधी हूँ। आपसे इतने वर्षों तक सेवा लेने के पश्चात् भी मैंने कभी आपकी ओर दृष्टि भी न डाली। मुझे क्षमा करो।

भामती – यह तो अच्छा ही हुआ की आपने मुझ पर दृष्टि नहीं डाली, अन्यथा मैं भी विषयासक्त हो पशुवत् जीवन व्यतीत करती। आपके कारण मैं पवित्र बन सकी। आपके लेखन से जगत का हित होगा।

मिश्रजी – भगवान वेदव्यास ने वर्षों तपस्या करके ब्रह्मसूत्र की रचना की तथा मैंने जीवन भर उसका चिन्तन-मनन किया, किन्तु तुम विश्वास करो कि तुम्हारी इस अपेक्षारहित तपोमय सेवा के समक्ष मेरा आजीवन अध्ययन, चिन्तन और मनन नगण्य है। अब इन पन्नों में, मुझे तुम्हारा सेवामय जीवन ही दिखाई दे रहा है। अत: हे देवी ! इस ग्रन्थ का नाम लोग तुम्हारे ही नाम से जानेंगे, मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो।

आज भी वह ग्रन्थ भामती टीका के नाम से प्रसिद्ध

है। इस प्रकार की अपेक्षा रहित सेवा वास्तव में पूजा का स्वरूप ले लेती है।

जब हम किसी की सेवा या सहायता करते हैं, तो कभी भी हमें उनसे कुछ अपेक्षाएँ नहीं रखनी चाहिए, यहाँ तक की प्रशंसा की भी अपेक्षा हमारे मन में नहीं होनी चाहिए। क्योंकि यदि हमने अपेक्षा की और वह हमें न मिले, तो वह हमारे दुख का कारण बन जाती है। वस्तुत: अपेक्षा रखकर हम अपने महान सेवाकार्य को छोटा कर देते हैं। वास्तव में यह एक प्रकार का व्यवसाय हो जाता है कि मैंने आपकी सहायता की, अब आप मुझे सम्मान दें, मेरी प्रशंसा करें। यदि हम सेवा करने के बाद किसी प्रकार की अपेक्षा न रखें, तो हम ऐसे सेवाकार्य से महान बन जाते हैं और सुखी भी। अत: हम अपेक्षा रखकर दुख के भागी क्यों बनें?

स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – ''हम कभी-कभी सोचते हैं कि हमने अमुक मनुष्य की सहायता की और इसलिये आशा करते हैं कि वह हमें धन्यवाद दे, पर जब वह हमें धन्यवाद नहीं देता, तो उससे हमें दुख होता है। हम जो कुछ करें, उसके बदले में किसी भी बात की आशा क्यों रखें? बल्कि उलटे हमें उस मनुष्य के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, जिसकी हम सहायता करते हैं, उसे साक्षात् नारायण मानना चाहिए। मनुष्य की सहायता के द्वारा ईश्वर की उपासना करना क्या हमारा परम सौभाग्य नहीं है?[९]

**(ट) नाम-यश से रहित सेवा –** यशप्राप्ति की लालसा से की गई सेवा वास्तव में एक प्रकार का स्वार्थ है, क्योंकि वहाँ मुख्य उद्देश्य सेवा न होकर स्वयं की प्रसिद्धि होती है। लोग दान देकर या सेवा करके अपने नामों के बड़े-बड़े फलक लगाते हैं, अखबार आदि में छपवाते हैं, जिससे उनका नाम हो। पर वास्तव में तो सेवा करनेवाले का उद्देश्य सेव्य (जिसकी सेवा की जाती है) का कल्याण मात्र होना चाहिए, चाहे लोग इसके विषय में जानें अथवा नहीं। सेवा के बाद यदि कोई नाम-यश प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो इससे उसका अहंकार ही बढ़ता है कि मैंने ऐसा किया। पर यहाँ हम रामायण के महान पात्र हमनुमानजी से एक गुण सीख सकते हैं – फल का ईश्वर को समर्पण। हनुमानजी असाधारण सेवा कार्य करते हैं, परन्तु अन्त में उसका श्रेय अपने प्रभु श्रीराम को दे देते हैं कि यह तो उनकी कृपा से ही संभव हो सका है। उसी प्रकार हमें भी सेवा के पश्चात् उसका श्रेय ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए।

सच्चे सेवक तो अपना नाम गुप्त रखना चाहते हैं, नाम-यश आदि से सदैव दूर रहना चाहते हैं। त्रेता युग की एक साधिका शबरीजी ऐसी ही एक अनुपम उदाहरण हैं, जो छुप-छुपकर ऋषियों के आश्रमों में झाड़ू आदि लगा दिया करती थीं कि कहीं लोग उन्हें पहचान न लें और फिर वे कहीं प्रसिद्ध न हो जाएँ। प्रसिद्धि के भय से वे गुप्त रूप से सेवा किया करती थीं। इस प्रकार की गुप्त सेवा सर्वश्रेष्ठ सेवा है। स्वामी विवेकान्दजी कहते हैं – ''संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अज्ञात ही चले गये। जिन बुद्धों तथा ईसामसीहों को हम जानते हैं, वे उन महापुरुषों की तुलना में द्वितीय श्रेणी के हैं, जिनके बारे में संसार कुछ जानता तक नहीं। प्रत्येक देश में चुपचाप अपना कार्य करते रहनेवाले सैकड़ों महापुरुष हुए हैं। चुपचाप वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं और चुपचाप इस संसार से चले जाते हैं, समय पाकर उनके विचार बुद्धों और ईसामसीहों में व्यक्त होते हैं और हम केवल इन्हीं बुद्धों और ईसामसीहों को जान पाते हैं। सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अपने ज्ञान से किसी प्रकार की यशप्राप्ति की कामना नहीं रखते।''[१०]

यशप्राप्ति के पीछे एक दूसरा पहलू भी है। यदि हमने कोई सेवा की, जैसे बाढ़ पीड़ितों के लिये भोजन की व्यवस्था करायी या हमने किसी की व्यक्तिगत सेवा या सहायता की, तो हमें कभी भी यह प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि वे हमें पहचाने, हमारे कृतज्ञ हों या हमारी प्रशंसा करें। जब व्यक्ति इस प्रकार सेवा करता है, तो पीड़ित या सेव्य पर वह उपकार करने जैसा व्यवहार करता है, सेव्य में निर्भरता का भाव लाकर उसमें छोटेपन का भाव उदित होता है, जिससे सेव्य को दुख पहुँचता है। नाम-यश की इच्छा से की गई सेवा, प्रतिस्पर्धा और अशान्ति की ओर ले जाती है, जबकि सेवा के उद्देश्य से की गई सेवा के द्वारा हमारे हृदय में उदारता आती है, वह हमें शान्ति प्रदान करती है और हमें महान बनाती है। ○○○

**सन्दर्भ – १.** विवेकानन्द साहित्य, ५/३९ **२.** वही, ९/१००-१ **३.** बृहदारण्यक उपनिषद १/४/१४ **४.** विवेकानन्द साहित्य, ३/४९ **५.** वही, ६/३३५-३३६ **६.** रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, १२४/६ **७.** विवेकानन्द साहित्य, ३/६३ **८.** वही, ३/६४ **९.** वही, ३/५१-५२ **१०.** वही, ३/७८

# सारगाछी की स्मृतियाँ (८१)

**स्वामी सुहितानन्द**

**स्वामी प्रेमेशानन्द**

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

**प्रश्न –** क्या आप श्रीमाँ के लिए कुछ ले जाते थे?

**महाराज –** नहीं, मेरे पास रुपया-पैसा भी नहीं था, किसी से लेन-देन भी नहीं था। केवल लाटू महाराज के लिये दो दिन कुछ ले गया था।

कर्म की गति गहन है। कैसे क्या होगा, कहना कठिन है। एक संन्यासी स्वामीजी के मन्दिर में पूजा करते थे। पैसा चुराने के कारण उन्हें चले जाना पड़ा। इससे कर्मक्षय हो रहा है कि नहीं, कह पाना कठिन है। एक कर्म करने से उसकी प्रतिक्रिया में सम्भवत: सात जन्म पीछे चला गया। इसके अतिरिक्त उन सबने और गर्हित कर्म किए थे कि नहीं, इसे कौन जानता है ! कर्म का फल भयंकर है। अवतारों तक को अभिशाप मिलता है – नृसिंह अवतार में सिंह की गर्जना से एक ब्राह्मणी का गर्भपात हो गया। पुराणों में कहा गया है कि उसके अभिशाप देने से रामावतार में स्वरूप की विस्मृति हो जाती थी।

किन्तु वे संन्यासी हमारे संघ में इतने दिन थे, उन्होंने ठाकुर का नाम सुना था, सम्भवत: वे उसी योगमाया के आकर्षण से बाहर निकल जाएँगे। दूसरे एक साधु ऐसे ही पागल की तरह थे, किन्तु बाबूराम महाराज आदि लोगों की चर्चा चलाकर देखो, तो उनका स्वभाव बदल जाता था ! यही है योगमाया का आकर्षण।

उपासना करके मन को भगवान में लगाओ। किन्तु शरीर को पहले ठीक रखो – 'शरीरमाद्यम्'। नित्यानित्य का सदा-सर्वदा विचार करो। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष तथा उसके पीछे अहं का चिन्तन करने से होगा क्यों नहीं? यह तो है ही, खोदने से ही बाहर आ जाएगा।

### १३-१०-१९६१

**महाराज –** श्रीमाँ कौन हैं? माँ एक सन्देश हैं। वे एक अन्तराल निर्माण करके सन्देश दे गईं। साधारण लोग उन्हें भूलवश मनुष्य समझते हैं। जब वे सन्देश देती हैं, तब वे निरन्तर नर-लीला करती हैं, मनुष्य के समान ही हँसना-रोना, सुख-दुख, क्रोध-भय सब कुछ करती हैं। साधारण लोग अवतार को नहीं समझते, सगुण ईश्वर समझते हैं। सगुण ईश्वर मानने से भी कोई हानि नहीं है। प्रगाढ़ निष्ठा, ऐकान्तिक भक्ति करने से भी होता है तथा अत्यन्त स्वजन व्यक्ति मान लेने से भी कार्य हो जाता है। किन्तु सात्त्विक प्रकृति का व्यक्ति होना आवश्यक है। रजोगुणी दल में प्रवेश करते ही नष्ट हो जाओगे। इस दल में व्यक्ति अहं-भावना के प्रभाव से धर्म-प्रचार और शिष्य बनाना आरम्भ कर देता है। किन्तु सगुण ईश्वर, जिन्हें हम अपना इष्ट मानते हैं, उनका राग-द्वेष सोचने से उन्हें अपना इष्ट कैसे बनायेंगे ! ठाकुर सचमुच ही जलेबी पसन्द करते थे, इसलिये उनकी जलेबी प्रियता का चिन्तन करने से, उनके (राग-द्वेषरहित अकर्ताबोध) सच्चे स्वरूप का, जिसे हम अपने जीवन में अनुसरण करेंगे, उसका चिन्तन नहीं होगा।

### १४-१०-१९६१

**महाराज –** देखो, चैतन्यदेव ने तो भागवत का प्रचार किया – कैसी अद्भुत भक्ति थी! कैसा अद्भुत ज्ञान था! किन्तु गीता पढ़ने से स्पष्ट ही दिखता है कि ज्ञान और भक्ति का चरमोत्कर्ष एक है। कई स्थान पर, कितने प्रकार से कहा है, किन्तु भागवत में विस्तृत रूप में है।

मन को आत्मपरक (subjective) बनाकर ऊपर उठाकर नहीं रखने से काम नहीं सधेगा। अपनी देह, मन, प्राण और बुद्धि ये यन्त्र हैं। यही चिन्तन करते-करते इसे जीवन्त कल्पना बनाना लेना होगा। मैंने प्रयास किया है। शरीर अस्वस्थ है, अत: कर नहीं सका। देश में कोई भी शरीर के बारे में सजग नहीं रहता। प्राण, मन, बुद्धि की क्रिया है, ध्यान करते-करते ही मन आत्मपरक हो जाएगा। मन

प्राण के कंधे पर चढ़कर बुद्धि का आदेश मस्तक से लेकर पैर तक चलाता है। इस गले से छाती, वहाँ से पेट, घुटने, पैरों तक जाता है, फिर आता है। इसीलिए खोज करते-करते अन्त में बुद्धि रहती है और जहाँ बुद्धि में चंचलता नहीं है, वहीं है अहं, जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है।

इसका कारण यह है कि बुद्धि की सामान्य चंचलता ही मन है। यह अहं 'आत्मसंस्थितम्' होता है, यह बुद्धि के क्षेत्र में है। इसमें मन स्थिर करने से दृष्टि आत्मपरक होगी, यह ठीक बात है, किन्तु कौन-सी उपासना करनी होगी एवं किस मार्ग पर अग्रसर होना है, इसे नहीं जानने से सिद्धियों के चक्कर में पड़कर साधक पथच्युत या विपथगामी हो जाता है।

### (६३)

**१६-१०-१९६१**

**प्रश्न –** 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः' – इस श्लोक का तात्पर्य क्या है?

**महाराज –** मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है – श्रेष्ठ लोगों को देखकर उनका अन्धानुसरण करना। गीता में ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म का सुन्दर समन्वय है – देखो ठाकुर भी ठीक ऐसे ही हैं न ! ऊपर-ऊपर से भक्तिपरक प्रतीत होगा, लेकिन कितने योग और ज्ञान की बातें हैं ! जितना ही ज्ञान होगा, उतना ही उनका तत्त्व जानकर, सभी जीवों में उन्हें देखकर उनके प्रति आकर्षण का अनुभव करोगे। चैतन्यदेव योगी हैं, बारम्बार समाधिस्थ हो रहे हैं, किन्तु उन्हें कंठी-माला पहना दिया है ! साधारण मनुष्य के हाथ में संस्कृति पड़ जाने पर इसी तरह निकृष्ट रूचि की ही हो जाएगी।

जहाँ धर्म की अवनति का बोध होता है, वहीं पर वे (ईश्वर) अवतीर्ण होते हैं। किन्तु जो लोग उन्नत चरित्र के नहीं है, उनमें उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। क्योंकि उन्नत चरित्र के लोग प्राकृतिक नियम के अनुसार चलते हैं, उनमें उसे भंग करने जैसी बुद्धि का विकास नहीं होता। उनमें अनैतिकता और चोरी-डकैती नहीं होती। फिर बुद्धि जितनी परिष्कृत होती है, उतनी ही प्राणशक्ति कम होती है और शरीर अस्वस्थ होता है। भारतवर्ष में जनसाधारण के बीच धर्म प्रचारित होने से आबाल-वृद्ध-वनिता सबको वास्तविक विचक्षणता, विद्वत्ता, नैतिकता आदि के सम्बन्ध में सुनने का सुअवसर मिलता था। यह संगठित समाज था।

योग ही असली परीक्षा है। कर्म-वेग में इन्द्रियाँ सुप्त रहती हैं, किन्तु वृद्धावस्था में जब निग्रह-क्षमता कम हो जाती है, तब इन्द्रियाँ प्रबल हो उठती हैं। जो इन्द्रिय-निग्रह करके ईश्वर को नहीं पकड़ते, वे बड़े महापुरुष होते हुए भी, सब कुछ परिष्कृत रूप में जानते हुए भी, विश्वास नहीं होता कि कब, किस समय उनका पतन सम्भव हो सकता है। इसीलिए ईश्वरचिन्तन रूप भावना के साथ ज्ञान-विचार रहना अत्यावश्यक है।

**प्रश्न –** अनागामी (स्थूल देहरहित मुक्तपुरुष) और जीवन्मुक्त, इन दोनों में कौन-सी उन्नत अवस्था है?

**महाराज –** अनागामी और जीवन्मुक्त में से कौन श्रेष्ठ है, यह प्रश्न नहीं हो सकता। दोनों ही स्थूल+सूक्ष्म शरीरों से मुक्त हैं। जीवन्मुक्त के लिये तो देह, मन कोई सम्पदा नहीं है, बल्कि एक भार स्वरूप है। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि आनन्दमय कोश श्रेष्ठ है या निर्वाण? आनन्दमय कोश में सामान्यतया सबको ही जाना होगा, किन्तु तीव्र वैराग्यवान, जैसे तोतापुरीजी द्वैत-विशिष्टाद्वैत को अस्वीकार कर एकदम सीधे निर्वाण में जाते हैं।

मनुष्य जो सांसारिक प्रिय चीजें चाहता है, उसे ही पाता है। भगवान के साथ आनन्दमय कोश में, वहाँ तो मैं अपने 'मैं' को ही पाता हूँ, इसीलिए वहाँ ठीक इच्छानुसार होता है। कोई संघर्ष नहीं है। किन्तु मनुष्य को प्रेम करने से ही उसे भूख-प्यास, रोग-शोक, वियोग, देह-गंध सब रहेंगे ही, किन्तु गोपाल की माँ को गोपाल से वियोग भी नहीं है, रोग भी नहीं है। (गोपाल) बड़ा भी नहीं होता, दाढ़ी-मूँछ भी नहीं आती। **(क्रमशः)**

## पुस्तकें प्राप्त हुई

**१. विनयाष्टक, २. नवदुर्गा स्तोत्र, ३. श्रीराधा-कृपा-स्तोत्र – आचार्य भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश', सम्पर्क सूत्र – मो. - ७०८०३२२७९५**

**४. चिन्तन कण – बाबूलाल परमार, सम्पर्क सूत्र – मो. ९००९४५६२८६**

**५. आत्मज्ञान – भेरूलाल भूरिया, सम्पर्क सूत्र – मो. ९९०७३२७०६२**

**६. भागवत का शाश्वत सन्देश – डॉ. सुरेशचन्द्र शर्मा, सम्पर्क सूत्र – ९८९३३९४९४७**

# गौरी माँ और श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य

**स्वामी तन्निष्ठानन्द**

**रामकृष्ण मठ, नागपुर**

स्वामी विवेकानन्द जी ने एक पत्र में लिखा था – ''गौरी माँ कहाँ हैं? उनके जैसी चैतन्यमयी शक्तिशालिनी हजारों माताओं की हमें आवश्यकता है। गौरी माँ और अन्य महिला भक्तों को कहिये कि वे बालिकाओं के लिए आश्रम की स्थापना करें। गौरी माँ वहाँ की प्रभारी होंगी।'' स्वामी विवेकानन्द जी जानते थे – गौरी माँ रुद्राणी की मूर्ति तथा स्नेहमयी माता हैं। उनकी तेजस्विता और कार्य-सामर्थ्य अद्‌भुत है।

स्वामीजी की गौरी माँ पर बहुत श्रद्धा थी। गौरी माँ और श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों में अद्‌भुत सम्बन्ध था। गौरी माँ स्वामीजी पर सन्तानवत् प्रेम करती थीं।

स्वामीजी ने एक दिन गौरी माँ के पास कलकत्ता के कालीघाट की काली का प्रसाद खाने की इच्छा प्रकट की। गौरी माँ ने उसी दिन नैवेद्य की तैयारी की। कालीघाट की देवी की सेवा में गिरिजाबाला देवी का सहयोग था और उनका वहाँ एक कमरा भी था। गौरी माँ ने रसोई बनाकर कालीमाता को नैवेद्य अर्पण किया। स्वामीजी और अन्य भक्तों ने आनन्द से प्रसाद ग्रहण किया। गौरी माँ का बनाया हुआ भोजन बहुत ही स्वादिष्ट होता था। स्वामीजी ने एक बार मजाक में उनसे कहा, ''गौरी माँ, आपके देह त्यागने के बाद आपका दाहिना हाथ काट कर रख देंगे। फिर वही हाथ हमारे लिए खाना बनाएगा।''

गौरी माँ कुछ समय तक वृदावन में कालाबाबू के कुंज में निवास कर रही थीं। एक दिन अचानक रात में स्वामीजी वहाँ आए और उन्होंने कहा, 'गौरी माँ मुझे बहुत भूख लगी है। जल्दी से खाने को कुछ दीजिए।' गौरी माँ के पास कोई भी खाद्य पदार्थ नहीं था। वे उतनी रात को दुकानदार के पास गयीं और भोजन सामग्री लेकर आयीं। स्वामीजी को भोजन कराने के बाद ही उन्हें संतोष हुआ।

एक बार गौरी माँ, स्वामी विवेकानन्द जी, योगानन्द महाराज, अद्वैतानन्द महाराज मिलकर तारकेश्वर महादेव के दर्शन करने गए थे। पैदल चलते-चलते रास्ते में एक जगह तालाब  के किनारे रुक गए। वहीं सीढ़ी पर बैठकर गौरी माँ ने पूजा की और भोग लगाया। गाँव की महिलायें वहाँ आकर उनसे बातचीत करने लगीं। उन्होंने गौरी माँ से पूछा, ''ये संन्यासी आपके कौन हैं?'' गौरी माँ ने उत्तर दिया, ''ये मेरे पुत्र हैं।'' स्वामी अद्वैतानन्द गौरी माँ से ज्येष्ठ थे। एक ने पूछा, ''ये वृद्ध  व्यक्ति भी आपके पुत्र हैं।'' गौरी माँ ने गंभीर भाव से कहा, ''वह मेरा सौतेला पुत्र है।'' इस पर स्वामी विवेकानन्द जी ने ठिठोली करते हुए कहा, ''अच्छा हुआ कि मेरी आयु कम है, नहीं तो मुझे सौतेला पुत्र होना पड़ता।''

गौरी माँ, गिरिजाबाला देवी, स्वामीजी और अन्य भक्त हरिद्वार में निवास कर रहे थे। एक दिन गौरी माँ बाहर गयी थीं। तभी एक भिखारी आया। गौरी माँ ने दामोदर के भोग के लिए आम रखे थे। वे नैवेद्य अर्पण करने के पूर्व उसका अग्रभाग किसी को भी नहीं देती थीं। स्वामीजी यह जानते थे। फिर भी उन्होंने गिरिजाबाला देवी को उसमें से दो आम भिखारी को देने के लिए कहा। गिरिजाबाला देवी को अपनी बेटी का स्वभाव ज्ञात था। ऐसा करने से वह झगड़ा करेगी, इसलिए वे हिचकिचाने लगीं। अन्त में स्वामीजी के हठ के कारण उन्होंने दो आम भिखारी को दे दिए। गौरी माँ को लौटने पर आम वाली बात पता चली। उन्होंने रुद्राणी का अवतार धारण कर लिया। इस पर गिरिजाबाला देवी और स्वामीजी बहुत हँसने लगे। ऐसा अद्‌भुत उनका सम्बन्ध था।

गौरी माँ दक्षिण भारत की तीर्थ यात्रा कर रही थीं। तभी स्वामीजी भी उसी प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे। कभी-कभी वे एक-दूसरे के बारे में सुनते थे कि कोई एक राजपुत्र के समान रूपवान, विद्वान् बंगाली संन्यासी इस स्थान पर आकर गए, अथवा कोई एक भक्तिमती, तेजस्विनी बंगाली संन्यासिनी कुछ दिन पूर्व यहाँ आयी थीं। दोनों ही समझ जाते थे कि दूसरा व्यक्ति कौन है? कभी-कभी दोनों की भेंट भी होती थी। दोनों ही सर्वत्र श्रीरामकृष्ण देव के भाव

का प्रचार कर रहे थे। एक बार सुनने में आया कि किसी मंदिर के एक महन्त ने एक असहाय बालिका को बांध कर रखा है। तेजस्विनी संन्यासिनी ने स्थानीय राजकर्मचारी से मिलकर बालिका को मुक्त करवाया। बाद में इस सम्बन्ध में विस्तृत वृत्तान्त जब स्वामीजी ने सुना, तब उन्होंने कहा था, ''गौरी माँ के सिवाय इतना साहस कोई नहीं कर सकता।''

गौरी माँ हिमालय के तीर्थों की यात्रा कर कलकत्ता आयीं। वे गंगा किनारे एक जगह बैठ गईं। तब श्रीरामकृष्ण देव के त्यागी शिष्य वराहनगर में एक किराये के मकान में रहकर साधन-भजन करते थे। वहाँ उन लोगों ने मठ स्थापित किया था।

स्वामी रामकृष्णानन्द जी कुछ काम से वहाँ आए थे। गौरी माँ को देखकर वे विस्मित हुए। उन्होंने गौरी माँ को मठ में पधारने के लिए आग्रह किया।

किन्तु मठ में स्त्रियों को प्रवेश नहीं है, यह जानकर गौरी माँ ने स्वयं उनके साथ नहीं जाने का निर्णय लिया और उन्होंने साथ आने से मना कर दिया। गंगोत्री से लाये पवित्र जल का एक पात्र उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द जी के हाथों में दिया और श्रीरामकृष्ण देव की पूजा में इसका उपयोग करने के लिए कहा। वे श्रीरामकृष्ण देव के नैवेद्य की वस्तुएँ लेकर गंगा किनारे बैठी रहीं।

स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने गौरी माँ के आगमन की वार्ता अपने गुरुबंधुओं को बतायी। स्वामीजी तुरन्त गौरी माँ के पास आए। उन्होंने गौरी माँ से कहा, ''मठ चलिए, गौरी माँ! आप स्त्री थोड़ी हैं। आप तो हमारी माँ हैं।'' इतना कहकर वे गौरी माँ का हाथ पकड़कर मठ लेकर आए। मठ में प्रवेश करते ही गौरी माँ ने देखा कि स्वामी ब्रह्मानन्द लोहे की कड़ाही धो रहे हैं। वे बहुत दुखी हुईं। क्योंकि वे जानती थीं कि इसी राखाल को श्रीरामकृष्ण देव अपनी गोद में बिठाते थे और उनसे अपार प्रेम करते थे। तुरन्त गौरी माँ ने उन्हें इस काम से हटाया और खुद कड़ाही धोने लगीं। तदनन्तर उन्होंने ठाकुर के भोग के लिए भोजन बनाया। सारे संन्यासियों को खाना खिलाया। सभी उनके हाथ का पकवान खाकर आनन्दित हुए। बहुत दिनों बाद ठाकुर के त्यागी शिष्यों को खिलाकर गौरी माँ को परम संतोष हुआ।

कुछ वर्षों बाद जब स्वामीजी विदेश में हिन्दू धर्म की विजय पताका फहराकर भारत आए, तब फिर से उनकी गौरी माँ से भेंट हुई। वे गौरी माँ को वहाँ की बातें बताने लगे। स्वामीजी ने गौरी माँ से कहा, ''मैंने उन लोगों को आपके बारे में बताया है। मैं आपको विदेश ले जाऊँगा और दिखाऊँगा कि हमारे भारत में कैसी स्त्रियाँ जन्म लेती हैं।'' गौरी माँ के आश्रम स्थापना के बारे में सुनकर स्वामीजी बहुत आनन्दित हुए। वे दो बार बराकपुर स्थित सारदेश्वरी आश्रम गए थे। स्वामीजी ने उन्हें इस विषय में मार्गदर्शन किया था।

स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता और अन्य पाश्चात्य महिलाओं का गौरी माँ के साथ परिचय करवाया था। उस दिन की घटना बताने में स्वामीजी को बहुत आनन्द आता था। वे कहते, ''तब निवेदिता को बंगाली नहीं आती थी और गौरी माँ उसकी अंग्रेजी पूर्णत: नहीं समझती थीं। पर दोनों ही एक-दूसरे की मन की बातें बताने को अधीर थीं! दोनों के बीच हाथों के इशारों से बातचीत शुरू हो गयी। हाथ, मुँह, सिर की हलचल हो रही थी, पर एक-दूसरे की भाषा नहीं समझ रही थीं। वह एक मजेदार दृश्य था।''

एक बार वे और उनकी माँ स्वामीजी से मिलने बेलूड़ मठ गईं। आश्रम इत्यादि की बातें हुईं। तब स्वामीजी ने गौरी माँ से कहा, ''मेरा कार्य पूर्ण हुआ है। अब महिलाओं के लिए आपको कार्य करना होगा।'' गौरी माँ ने उन्हें रोकते हुए कहा, ''आप दीर्घायु हों! ऐसा अशुभ मत बोलिए।'' स्वामीजी यह सुनकर थोड़ी देर गंभीर भाव में बैठे रहे। फिर उन्होंने कहा, ''गौरी माँ, ठाकुर की जैसी इच्छा होगी, वैसा होगा।'' बाद में हँसते-हँसते कहा, ''आप माताएँ मुझे हमेशा छोटा बच्चा समझकर पकड़कर रखना चाहती हैं। क्या कभी ऐसे होता है भला!''

४ जुलाई, १९०२ को गौरी माँ बराकपुर के सारदेश्वरी आश्रम में ठाकुर की सन्ध्या आरती कर रही थीं। वे बीच में ही चिल्लाकर कह उठीं, ''बेलूड़ मठ में कुछ अनहोनी हुई है! मुझे लगता है, नरेन हमें छोड़कर चला गया है!'' उपस्थित सभी लोग अनिष्ट की संभावना से भयभीत हो गए। वे स्तंभित होकर बैठे रहे। उनका गौरी माँ के कथन पर विश्वास नहीं हो रहा था, क्योंकि उनमें से एक ने सुबह ही स्वामीजी को टहलते हुए देखा था। पर तभी बेलूड़ मठ से स्वामीजी की महासमाधि का समाचार आया।

स्वामीजी की तरह श्रीरामकृष्ण देव के अन्य शिष्यों की गौरी माँ पर श्रद्धा थी। स्वामी अभेदानन्द अमेरिका में वेदान्त

का प्रसार कर भारत लौटे। वे ठाकुर की पूजा के लिए कुछ विशेष वस्तुएँ तथा गौरी माँ के लिए साड़ी इत्यादी लेकर सारदेश्वरी आश्रम गए। वहाँ उन्होंने प्रसाद पाया। आश्रम की बालिकाएँ शास्त्राभ्यास तथा कढ़ाई-बुनाई इत्यादि सीख रही हैं, यह जानकर उन्हें बहुत खुशी हुई। बालिकाओं ने उन्हें अपने हाथों से बुना हुए कोट भेंट किया।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी को भी उन्होंने इसके पूर्व एक कोट भेंट में दिया था। महाराज ने सभी को वह कोट दिखाते हुए बालिकाओं की बहुत प्रशंसा की थी। कोट का नाप लेनेवाले व्यक्ति को उन्होंने कहा था, ''कोट में बहुत-से जेब रखा करो। शिष्यों के प्रणामी देने पर मैं उसमें रख सकूँगा!''

स्वामी रामकृष्णानन्द जी गौरी माँ की ठाकुर के प्रति भक्ति और निष्ठा से बहुत प्रभावित थे। गौरी माँ भी उनकी ठाकुर के प्रति सेवापरायणता देखकर विशेष स्नेह करती थीं। एक बार गौरी माँ को दुर्गापूजा के समय उद्बोधन भवन में श्रीमाँ की निष्ठा के साथ पूजा करते देख स्वामी रामकृष्णानन्द जी ने कहा, ''गौरी माँ, आपके भक्ति-विश्वास की तुलना नहीं है।'' उन्होंने एकबार एक भक्त को पत्र में लिखा, ''गौरी माँ के जैसा उन्नत जीवन इस युग में दुर्लभ है। ठाकुर उनको बहुत स्नेह करते थे।'' स्वामी रामकृष्णानन्द मद्रास में सेवारत थे। वहाँ उनका स्वास्थ्य अत्यन्त बिगड़ गया। उन्हें कलकत्ता लाया गया। गौरी माँ बीच-बीच में उनसे मिलने जाती थीं। एक दिन वे उनके लिए कालीघाट की काली माँ का चरणामृत लेकर गईं। तब स्वामी रामकृष्णानन्द विश्राम कर रहे थे। इसलिए गौरी माँ ने सेवक के पास चरणामृत रख दिया और चली गईं। बाद में जब उन्हें यह पता चला, तो बहुत दुख हुआ। इस घटना के तीन-चार दिन बाद गौरी माँ पूजा समाप्त कर उठी थीं, तभी उन्होंने देखा कि स्वामी रामकृष्णानन्द जी दरवाजे पर खड़े हैं। दिव्य स्वस्थ, निरोगी शरीर, ललाट पर रक्तचंदन का तिलक और मुख पर मृदु हास्य! गौरी माँ उनकी ओर देखते ही रह गईं। वे कुछ बोलनेवाली ही थीं, तभी स्वामी रामकृष्णानन्द जी अदृश्य हो गए। दुर्भाग्य से उसी दिन स्वामी रामकृष्णानन्द जी के देहावसान का दुखद समाचार मिला।

गौरी माँ ने एक बालिका को उसका आध्यात्मिक आधार देखकर अपने पास आश्रम में रखा था। पर उसके माता-पिता ने जबरन उसका विवाह करने का निश्चय किया। यह समझते ही गौरी माँ स्वामी सारदानन्द जी के पास मार्गदर्शन के लिए गईं। स्वामी विवेकानन्द जी ने इस बालिका के बारे में एक बार कहा था, ''ये बालिका अविवाहित रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त करेगी। अपने देश की लड़कियों की सेवा में अपना जीवन अर्पण करेगी।'' स्वामी सारदानन्द यह बात जानते थे। उन्होंने गौरी माँ को उस बालिका को लेकर दूर जाने का परामर्श दिया तथा यात्रा के लिए आर्थिक व्यवस्था भी की और पश्चिम भारत के एक परिचित व्यक्ति का पता दिया। गौरी माँ बालिका को लेकर मद्रास चली गईं। वहाँ स्वामी रामकृष्णानन्द जी के पास कुछ दिन रहीं। वहाँ से सोलापुर आकर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के शिष्य हरिपद मित्र के यहाँ चार महीने निवास किया। बाद में पंढरपुर, पुणे, मुंबई आदि स्थानों की यात्रा की। पुणे में लोकमान्य तिलक और न्यायमूर्ति रानडेजी की पत्नी रमाबाई रानडेजी से उनकी भेंट हुई। बाद में उस बालिका की उचित व्यवस्था करके वे निश्चिन्त हो गईं।

इधर कलकत्ता में अफवाह फैल गई कि गौरी माँ ने देहत्याग कर दिया है। गौरी माँ प्रतिवर्ष कलकत्ता के कालीघाट मंदिर में दुर्गापूजा के समय पूजा-पाठ करती थीं। इस वर्ष भी वे कलकत्ता आयीं और पूजा-पाठ किया। बाद में बेलूड़ मठ गईं। मठ में स्वामी शिवानन्द, गिरीश घोष आदि बातचीत कर रहे थे। उन्होंने गौरी माँ को मठ में प्रवेश करते हुए देखा। गिरीश बाबू दौड़ते हुए उनके पास गए और बार-बार कहने लगे, ''अहा! माँ आप हैं! माँ, आप जीवित हैं!'' उन्हें देखकर सभी बहुत प्रसन्न हुए और उनके पास बैठकर अज्ञातवास की कहानियाँ आनन्दपूर्वक सुनने लगे।

भुवनेश्वर मठ का निर्माण-कार्य चल रहा था। स्वामी ब्रह्मानन्द ने गौरी माँ को वहाँ आमन्त्रित किया। महाराज के आग्रह और उनके प्रति स्नेह के कारण वे भुवनेश्वर आयीं। महाराज ने मठ के समीप ही उनके रहने की व्यवस्था कर दी। गौरी माँ के आगमन से वे बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने स्वयं गौरी माँ को भुवनेश्वर के दर्शन कराए। एक छोटे बालक की तरह मठ में कहाँ क्या होगा, यह सब घूम-घूम कर दिखाया तथा उसकी जानकारी दी। गौरी माँ जितने दिन भुवनेश्वर में थीं, उतने दिन वे राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास बैठकर उन्हें बहुत प्रेम से दामोदर का प्रसाद खिलाती थीं। उनके प्रति गौरी माँ का वात्सल्य भाव था। वे दोनों ही

शेष भाग अगले पृष्ठ पर

प्रेरक लघुकथा

# राजा की रक्षा, राज्य की सुरक्षा

## डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

रूस को परतन्त्रता की जंजीरों से मुक्त करानेवाले लेनिन जितने दयालु थे, उतने ही कठोर भी थे। उनके गुणी, ज्ञानी और प्रजावत्सल होने के कारण लोग सुखी थे। एक बार वे बीमार पड़ गए। चिकित्सा की गई, किन्तु रोग बढ़ता जा रहा था। तब विशेषज्ञ चिकित्सकों को बुलाया गया। उन लोगों ने बहुत-सी कीमती दवाइयाँ लिख दीं। लेनिन उन्हें खरीदने में असमर्थता बोध कर रहे थे। उनकी पत्नी क्रप्सकाया से रहा न गया। उसने शासकीय कोष से खरीदने की सलाह दी। लेकिन नि:स्पृह तथा स्वच्छ चरित्र वाले लेनिन ने स्पष्ट रूप से कह दिया, "यह कोष जनता की निधि है। एक जन प्रतिनिधि होने के नाते ऐसा करना गबन होगा। इस निधि में से अपने लिए कुछ व्यय करने का मेरा अधिकार नहीं है।"

जब बीमारी दिनोंदिन बढ़ने लगी, तो क्रप्सकाया ने पति की बिना अनुमति के शासकीय कोषागार से दवाइयाँ खरीदी और उसे चूरा कर बिस्कुट तथा चाय में देने लगीं। इससे दो महीनों में ही लेनिन स्वस्थ होने लगे। एक वर्ष बाद बातचीत में जब क्रप्सकाया ने उनके स्वस्थ होने का राज बताया, तो लेनिन का चेहरा तमतमा उठा। उन्होंने फौरन वकील को बुलाकर राष्ट्रीय सम्पत्ति के दुरुपयोग के लिए पत्नी के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा करने को कहा।

क्रप्सकाया को सम्मन भेजा गया। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। न्यायाधीश ने फैसला सुनाया – "अभियुक्ता को मैंने शासक की पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि रूस की एक सामान्य नागरिक के रूप में देखा। उसने शासकीय निधि का दुरुपयोग करना स्वीकार किया है, इसलिए मैं उसे तीन साल की सजा सुनाता हूँ। किन्तु उसका यह अपराध अन्य अपराधों से हटकर है। यह अपराध उसने एक सुशासक की रक्षा हेतु किया। शासक की रक्षा करना हर नागरिक का कर्तव्य है, अत: मानवता की दृष्टि से क्रप्सकाया को इस दंड से मुक्त करना मेरा नैतिक दायित्व है। मेरी आकांक्षा है कि दोनों सब कुछ भूलकर पूर्ववत् पति-पत्नी के धर्म का निर्वहन करें।"

राजा या शासक देवदूत, सुशासक मानवीय गुणों का आगार होता है। वह प्रजा का पुत्रवत् पालन कर देश में शान्ति, सद्भाव और उल्लास का वातावरण बनाता है। राष्ट्र का विकास और उत्थान उसका लक्ष्य होता है। प्रजावत्सल राजा की रक्षा करना हर नागरिक का कर्तव्य है। ○○○

---

पिछले पृष्ठ का शेष भाग

ठाकुर की स्मृतियों को उजागर करते हुए आनन्द से दिन व्यतीत करते। एक दिन महाराज ने गौरी माँ से कहा, "माँ, अब आप वृद्धा हो गयी हैं। आप और कितना कष्ट सहन करेंगी! मैंने आपके आश्रम की बालिकाओं को बता दिया है। अब वे ही आश्रम चलाएँगी। आप यहीं रहिये और मुझे अपने बनाये हुए दामोदर का प्रसाद खिलाइए।"

गौरी माँ थोड़े दिन रहकर आश्रम वापस आ गईं। किन्तु वे प्रतिवर्ष जगन्नाथपुरी और नवद्वीप जाती थीं। १९३२ में वे भगवान जगन्नाथ के दर्शन करने पुरीधाम गईं। दर्शन करते समय उन्होंने भगवान से कहा, "हे प्रभु, मैं हर साल आपके दर्शन के लिए आती हूँ, पर अब ऐसा लगता है कि यह मेरी अन्तिम भेंट है।" कठिन तपस्या और जीवनयापन करने का प्रभाव उनके शरीर पर दिखने लगा। उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। डॉक्टर के परामर्श से वायु-परिवर्तन के लिए उन्हें वैद्यनाथ धाम तथा बाद में नवद्वीप ले जाया गया। १९३६ में ठाकुर की जन्मशताब्दी थी। स्वप्न में उन्होंने देखा कि वे यज्ञ में अन्तिम आहुति डाल रही हैं। वे समझ गईं कि अब लीला-संवरण का समय आ गया है। गौरी माँ ने सब तैयारी कर ली। १९३८ की शिवरात्रि के दिन गौरी माँ कहने लगीं, "ठाकुर फिर से एक बार धागा खींच रहे हैं।" प्रथम बार ठाकुर ने धागा खींचकर उन्हें अपने चरणों में आश्रय दिया था। पर अभी वे उन्हें अपने धाम बुला रहे थे। १ मार्च, १९३८ को गौरी माँ ने ठाकुर का नाम-स्मरण करते हुए देहत्याग किया। ठाकुर के शिष्यों की स्नेहमयी माँ उन्हें छोड़कर चली गईं। ○○○

# मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (१८)

स्वामी अखण्डानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। परिव्राजक के रूप में उन्होंने हिमालय इत्यादि भारत के कई क्षेत्रों के अलावा तत्कालीन दुर्लघ्य माने जाने वाले तिब्बत की यात्राएँ भी की थीं। उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अन्य संस्मरण बंगला पुस्तक 'स्मृति कथा' में प्रकाशित हुए हैं, जिनका अनुवाद विवेक ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

### शिक्षा-प्रसार की चेष्टा

पत्र का उत्तर पाते ही मैं विशेष आनन्दित चित्त के साथ बड़े उत्साहपूर्वक कार्य में जुट गया ।

प्रथमत:, राजा का एक एंट्रेंस स्कूल था, जिसमें केवल ८० छात्र थे । मैं राजधानी खेतड़ी के सामान्य गृहस्थों तथा दीन-दुखियों के घर जा-जाकर बच्चे माँगने लगा । पढ़ाई-लिखाई का कभी नाम तक न सुननेवाले अति निर्धन गृहस्थ भी अपने बच्चे देने लगे । परन्तु एक लड़का घर में रहे बिना जिनकी गृहस्थी नहीं चलती थी, ऐसे लोगों में से जिसके चार बच्चे थे, उसने तीन दिये, जिसके तीन थे उसने दो दिये । इस प्रकार स्कूल में २०० छात्र एकत्र हो गये ।

खेतड़ी में दासों के करीब ५०० परिवार थे । राजपुताना में इन्हें गोला या चेला कहते हैं । काफी काल से यह प्रथा प्रचलित है । गोला कन्याएँ राजा के अन्त:पुर की दासी, सखी और बीच-बीच में कोई सुन्दर चेली राजा के नजरों में आ जाने पर खवायस (पटरानी के नीचे की रानी) के रूप में स्वीकृत हो जाती है । ऐसे विवाह से जो सन्तान होती है, उसे दो-एक आने सम्पत्ति भी मिल जाती है । राजकन्या के विवाह के समय उसके साथ दहेज के रूप में ऐसी ही चार-पाँच अविवाहित चेलियाँ भी दी जाती हैं । राजकन्या के ससुराल के चेलों के साथ इन चेलियों का विवाह होता है ।

ये गोला बालक राजभवन के अफसर, मुसाहेब, अतिथि, अभ्यागतों आदि की सेवा करते हैं । ये लोग देखने में काफी सुन्दर, परन्तु पूर्णत: अशिक्षित होते हैं । मैंने देखा कि ये लोग शिक्षा पाने के उपयुक्त पात्र हैं, परन्तु उन्हें विद्यालय में कैसे भेजा जाय? इसके लिये पहले राजा को राजी करना होगा और इसके लिये अवसर देखकर उनके सामने प्रस्ताव रखना होगा ।

देखते-ही-देखते रक्षा-बन्धन का दिन आ पहुँचा । राजपुताना में रक्षा-बन्धन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पर्व है । उस दिन सभी लोग अपने पितरों का श्राद्ध-तर्पण करते हैं और ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं । उस दिन ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता । सात रुपये वेतन पानेवाला दरवान और राजा आपस में परम आनन्दपूर्वक रक्षा-बन्धन करते हैं और राजा की जाति का हो, तो एक ही रोटी में से तोड़कर खाते हैं ।

खेतड़ी के एक सुन्दर सरोवर (पन्ना तालाब) के किनारे महा समारोह के साथ यह उत्सव सम्पन्न होता है । इस पुण्य दिवस पर सुयोग देखकर मैंने राजा साहब से कहा, "महाराज, आपके ये गोला बालक शिक्षित हो जाने से क्या और भी उपयोगी नहीं होंगे?" यह बात मैंने राजा को भलीभाँति समझा दी । राजा ने इसे स्वीकार किया और बोले, "पता लगाइये कि मेरे गोला बालकों में कितने शिक्षा के उपयुक्त हैं ।"

मुझे पहले से ही सब पता था । गोला बालकों के माता-पिता भी अपने बच्चों की शिक्षा की बात पर खुश थे । केवल १५-१६ बच्चों के अभिभावक बोले, "बाबाजी, हमारे बच्चे राजा की कचहरी के कर्मचारियों की सेवा करते हैं, इस कारण आधा सेर या तीन पाव बाजरा पाते हैं । आप यदि उन्हें विद्यालय में भर्ती करेंगे, तो वह बन्द हो जायेगा । यदि वह मिलता रहे और लड़के पढ़ाई करें, तो हम पूरी तौर से राजी हैं ।" राजा को इस विषय में भी सहमत करने के बाद अगले दिन मैंने ५०-६० छोटे-छोटे गोला बालकों को लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया । उनकी आयु ५ से १६ वर्ष तक की थी । राजा ने आदेश दिया, "ये लोग कल से स्कूल जायेंगे ।" मैं निश्चिन्त मन से भोजन करने चला गया ।

इसी बीच राजा के एक प्रमुख कर्मचारी ने उन्हें एकान्त में ले जाकर कहा, "महाराज, यह आपने क्या आदेश दिया? इनमें से अनेक लड़के कचहरी में कर्मचारियों का काम करते

हैं, इन्हें हटाने से कार्य की बड़ी हानि होगी।'' इन कर्मचारी की सलाह को राजा विशेष महत्त्व देते थे। बोले, ''अच्छी बात है, तो फिर कल से ये लोग स्कूल नहीं जायेंगे।''

मैं अभी खाने के लिये बैठा ही था कि यह समाचार मेरे पास भी आ पहुँचा। मुझसे खाया नहीं गया, मैं रोते हुए राजा के पास दौड़ा। राजा ने चिन्तित होकर पूछा, ''आप ! इस समय ! भोजन तो हुआ है न?'' मैं रोते हुए बोला, ''महाराज, आपने मुझे खाने ही कहाँ दिया?'' राजा ने परेशान होकर पूछा, ''क्या हुआ?'' मैं डबडबाई आँखों के साथ बोला, ''महाराज, आपने अभी-अभी स्वयं आदेश दिया और अगले ही क्षण उसे रद्द भी कर दिया !''

राजा बोले, ''प्रधान कर्मचारी का कहना है कि बहुत-से गोला बालक कचहरी में काम करते हैं; उन्हें हटा लेने पर कार्य की विशेष हानि होगी।'' मैंने कहा, ''मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ कि ये लोग कचहरी में क्या-क्या कार्य करते हैं। लिखते-लिखते किसी कर्मचारी को जँभाई आ गई, तो इन लोगों को चुटकी बजानी पड़ती है। कर्मचारी महाशय जब घर जाते हैं, तो बालक उनके कागजात उठाकर उनके घर जाता है और उनके घर का कार्य करता है। फिर अगले दिन उनके साथ-साथ कचहरी में आता है। अब आप मुझे समझा दीजिये कि उनकी पढ़ाई से कचहरी के किस कार्य की हानि होगी?''

राजा ठहाका मारकर हँस उठे और पास में ही उपस्थित एक कर्मचारी से बोले, ''बाबाजी की बात का कोई प्रत्युत्तर दे सकता है?'' कर्मचारी निरुत्तर रह गये। राजा बोले, ''बाबाजी, आप जाकर भोजन कीजिये, मैं आदेश दे दूँगा।''

मैं बोला, ''देंगे क्या, महाराज ! आपका आदेश हुए बिना मैं भोजन का स्पर्श तक नहीं करूँगा।'' घर में संन्यासी कहीं भूखा न रह जाय, यह सोचकर राजा ने तत्काल आदेश दिया। मेरे विजय की बात सुनकर रानी माता ने खूब आनन्दित होकर स्कूल जाने के लिये अपने अन्त:पुर से भी ४-५ साल के ३-४ गोला बालकों को मेरे पास भेज दिया।

अगले दिन विद्यालय में ८० की जगह लगभग २५० छात्र आये। स्कूल में उपयुक्त हेड मास्टर न होने के कारण मेरठ से एक बंगाली एम.ए. को ले जाकर उस कार्य में लगा दिया। बाद में मैंने स्कूल में एक सभा की स्थापना की। इस सभा में छात्रगण प्रबन्ध लिखकर पाठ किया करते थे और छात्रों की उन्नति के विषयों पर विशिष्ट व्यक्तियों तथा राज्य के अधिकारियों के व्याख्यान हुआ करते थे।

## उदयपुर में

खेतड़ी के राजा प्रतिवर्ष निर्दिष्ट समय पर आबू पहाड़ पर जाया करते थे। उनके वहाँ (आबू) के लिये रवाना होने के पूर्व ही मैं खेतड़ी से चलकर जयपुर जा पहुँचा। जयपुर में 'राजस्थान-समाचार' के सम्पादक समर्थदान जी के साथ परिचय हुआ और मैं उनके साथ अजमेर गया। वहाँ २०-२५ दिन उनके घर में निवास करने के बाद मैंने उदयपुर की यात्रा की।

ट्रेन में उदयपुर के महाराणा के प्रधानमंत्री के भतीजे के साथ परिचय हुआ। वे बँगला भाषा जानते थे, बोले, ''टॉड साहब के 'राजस्थान' ग्रन्थ के आधार पर बँगला में जो नाटक लिखे गये हैं, महाराणा उन्हें सुनने के इच्छुक थे, अत: मैंने बँगला सीख ली और उन नाटकों को पढ़कर और उनका हिन्दी अनुवाद करके राणा को सुनाया करता था। राणा उन्हें सुनते-सुनते उच्च स्वर में हँसते हुए कहते, 'बंगाली बाबुओं ने हमारे बाप-दादों को बिल्कुल बंगाली बना डाला है। राणा प्रताप के प्रिय घोड़े 'चेतक' को नाम दे दिया है 'चोइतक'!''

चितौड़ में उतरकर हम दोनों ने वहाँ के शासक का आतिथ्य ग्रहण किया। चितौड़ देखने के बाद हमने उदयपुर की यात्रा की। वहाँ पर मैं रामबाग (गुलाब-बाग) नामक उद्यान में स्थित पाला-गणेशजी के मन्दिर में ठहरा। उस उद्यान में महाराणा का एक विशाल ग्रन्थालय था। उसमें मैंने इतिहास तथा पुरातत्त्व विषयक पुस्तकों का काफी अच्छा संग्रह देखा, परन्तु उन्हें बाहर ले जाने की अनुमति न थी। ग्रन्थपाल के साथ परिचय हो जाने के कारण मुझे पुस्तकें लाने की छूट थी। मैं इतिहास और पुरातत्त्व पढ़ने लगा।

## चातुर्मास्य और नागा संन्यासियों की टोली

प्रारम्भ में माधुकरी (भिक्षाटन) किया करता था, परन्तु तभी वर्षा ऋतु आ गयी। चातुर्मास आरम्भ हो गया। और इसके साथ ही चार-पाँच सौ नागा संन्यासी भी आ पहुँचे।

कभी नागा संन्यासियों ने युद्ध में उदयपुर, ग्वालियर, इन्दौर तथा जामनगर के राजाओं की सहायता की थी। तभी से इन सभी राज्यों में उनका विशेष सम्मान है। दशनामी

शेष भाग पृष्ठ ३२७ पर

# आध्यात्मिक जिज्ञासा (४३)

## स्वामी भूतेशानन्द

— महाराज, संन्यास के समय हम लोगों ने गायत्री मन्त्र को गंगाजी में विसर्जित किया और ब्रह्म-गायत्री प्राप्त किया। अब पुन: कैसे गायत्री मन्त्र का जप किया जा सकता है?

**महाराज** — ब्रह्म गायत्री-मंत्र पाये हो, बहुत अच्छा है। उसे जपते रहो। गायत्री-मंत्र भी जपते रहो। इसमें कठिनाई कहाँ है? संन्यास के समय जो-जो त्याग किया है, क्या अभी उसका कुछ भी नहीं कर रहे हो? क्या वास्तव में सब कुछ त्याग हुआ है?

— सब कुछ त्याग का संकल्प तो किया है।

**महाराज** — तुम लोगों ने जो संन्यास लिया है, वह विधिगत संन्यास है, प्रकृत संन्यास नहीं है। प्रकृत संन्यास ही संन्यास की अवस्था है। वह संन्यास होने पर कुछ भी करना संभव नहीं होता है। क्योंकि तब तुम-मैं सब आत्मा हैं। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। त्याग का अर्थ है स्वार्थ-भाव का परित्याग करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो उपाय या जो प्रक्रिया हमारे लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता करे, उसका परित्याग करना। ये सब हमारे सहायक हैं। संन्यास के बाद भी गायत्री मंत्र का जप करना हमारी लक्ष्य प्राप्ति में सहायक है। इन सबका कभी भी त्याग नहीं करना चाहिए। गीता में भगवान कहते हैं न — **काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:**। सब प्रकार से स्वार्थ-भाव का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है।

**प्रश्न** — ठाकुर ने तो कहा है – 'जितने मत उतने पथ।' पुन: कहते हैं, उनके पास आना होना। उनके पास क्यों आना होगा?

**महाराज** — उनके पास अर्थात् मानव को उनका भाव लेना होगा, चाहे वह जहाँ भी रहे। देखो, ठाकुर की बात हमलोग अपनी बुद्धि से समझने का प्रयास कर रहे हैं। ठाकुर ने किस दृष्टि से कहा था, यह तो वे ही जानें और जिनको कहा था, सम्भवत: वे समझे थे। इसलिए हमलोग कभी नहीं कहते हैं कि ठाकुर की इस बात का यही अर्थ है। हम लोग केवल कहते हैं, हमें लगता है कि ठाकुर के इस कथन का ऐसा अर्थ है।

**प्रश्न** — महाराज, हमारे ठाकुर पवित्रता के मूर्तस्वरूप हैं। हमलोग उनके अनुयायी हैं। किन्तु हमलोगों के मन में कितनी चंचलता है ! बीच-बीच में लगता है कि हमलोग कैसे ठाकुर को प्राप्त करेंगे?

**महाराज** — ठाकुर को प्राप्त करना माने क्या है? क्या ठाकुर हमलोगों के भीतर हठात् प्रवेश कर जाएँगे? ऐसा नहीं है। ठाकुर को प्राप्त करने का अर्थ है, उनके जैसा होना। क्या जुगनू कभी सूर्य होता है? किन्तु उस सूर्य के तेज से जितनी हमारी अपवित्रता धीरे-धीरे जल जायेगी, जिसने हमलगों को उनसे दूर रखा है, जितना ही वह आवरण चला जायेगा, उतना ही हमलोगों सूर्य के समीप होते जाएँगे, हम लोग सूर्य हो जाएँगे। इसी दृष्टि से सूर्य होने की सम्भावना है। जैसे कुछ बूँद आचमन के जल को समुद्र बनने की कोई सामर्थ्य नहीं है। किन्तु वही कुछ बूँद आचमन का जल जैसे अपनी परिधि को बढ़ाते-बढ़ाते अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाता है, वैसे ही हमलोग अपनी सभी संकीर्णताओं को दूर फेंककर उनके साथ, भगवान के साथ एक हो सकते हैं। यह प्रश्न कई लोगों के मन में उठता है – क्या वास्तव में हम लोगों के लिए उस उच्च आदर्श को प्राप्त करना सम्भव है? क्योंकि हमारा आदर्श इतना महान है, इतना ऊँचा है कि लगता है कि हम उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि हम लोग एक-एक कदम सूर्य की ओर आगे बढ़ते रहें, तो क्या हमलोग समझ पाएँगे कि कितनी दूर आ गये हैं? वह समझा नहीं जा सकता। क्योंकि हमारे अग्रसर होने की तुलना में आदर्श इतना ऊँचा है, लक्ष्य इतना दूर है कि लगता है कि आदर्श प्राप्त करना असंभव है। इसीलिए साधक जीवन में ऐसा लगना अच्छा है। इससे हमलोग समझेंगे कि जिस आदर्श को हमलोगों ने वरण किया है, उसे प्राप्त करना अत्यन्त सरल नहीं है।

उसके लिए वर्ष-पर-वर्ष समय की आवश्यकता है। हजार जन्म लगें, उसके लिये तैयार रहना, उसके लिये प्रयास करने की यह जो मनोभावना है, यह बहुत मूल्यवान है।

**प्रश्न –** महाराज ! ठाकुर अपने युवा भक्तों से बीच-बीच में प्रश्न पूछते थे, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है? ऐसी जिज्ञासा क्यों करते थे?

**महाराज –** उन लोगों ने ठाकुर को कितना समझा है या किस दृष्टि से उन्हें देखते हैं, इसे देखकर ठाकुर समझ पाते थे कि वह युवा-भक्त साधना में कितना आगे बढ़ा है या किस मार्ग पर चल रहा है। इसे जानकर उसको और अधिक आगे बढ़ाने के लिये वे सहायता करते थे। ठाकुर को हमलोग कितना समझते हैं, यही हमारे आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का लक्षण है।

– किन्तु महाराज ! कोई गृहस्थ भक्त कहते हैं कि आप भी वही गौरांग इत्यादि हैं। ठाकुर ने तत्काल विरोध करते हुए कहा – अरे! ये कैसी बात है ! मैं उनके दासों का दास हूँ इत्यादि।

**महाराज –** क्या कहते हो, भक्त हमें भी कहते हैं कि आप भी वही हैं। आप अमुक हैं। (सभी लोग हँसते हैं) अवतार कहना सरल है, किन्तु समझना कठिन है। अवतार को समझना अत्यन्त, अत्यन्त कठिन है ! जन्म-मृत्यु को स्वीकार कर असीम अनन्त निर्विशेष ब्रह्म कैसे मनुष्य रूप में आते हैं, यह समझना बहुत कठिन है। बल्कि शालिग्राम शिला को अवतार कहने से समझ में आता है। क्योंकि वह विरोध नहीं करता। वह अवतार कल्पित, आरोपित है। वहाँ यथार्थ रूप में अवतारत्व है कि नहीं, यह प्रश्न नहीं उठता। किन्तु मानव रूप में जब वे अवतार होकर आते हैं, तब वहाँ पर अवतारत्व कल्पित नहीं है, आरोपित नहीं है। क्योंकि मानव होकर आते हैं, इसलिये उनका जन्म है, मृत्यु है, रोग-शोक सब कुछ है। अर्थात् वह पग-पग पर, प्रत्येक कार्य-कलाप में, व्यवहार में मूल तत्त्व का विरोध कर रहे हैं। इसलिए अवतार को समझना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए ठाकुर ने कहा – भगवान की मानव-लीला में विश्वास करना कठिन है।

– ठीक कह रहे हैं महाराज ! जब गिरीश बाबू और राम बाबू ठाकुर को अवतार कह रहे हैं, तब ठाकुर ने कहा – हाँ, एक नाटककार है, दूसरा चिकित्सक है और ये मुझे अवतार कह रहे हैं ! अवतार को ये लोग क्या समझते हैं?

**महाराज –** हाँ, ठीक वैसा ही है। वह तो केवल कहने के लिये है। इसीलिए जब कोई बिना समझे, कोई बात कहता, तो ठाकुर उसका विरोध करते थे। जो अनन्त हैं, असीम हैं, इस जगत के अधीश्वर हैं, वे इस छोटे-से मानव रूप में आते हैं, क्या यह सहज में विश्वास होता है? श्रीमद्भागवत में देवकी के द्वारा किए गए स्तव में बड़ी सुन्दर-सुन्दर बातें हैं। देवकीजी कह रही हैं –

**विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते**
**यथावकाशं पुरुषः परा भवान्।**
**बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-**
**दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्।। १०/३/३१**

(भावार्थ – प्रलय के समय आप इस सम्पूर्ण विश्व को अपने शरीर में वैसे ही स्वाभाविक रूप से धारण करते हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने शरीर में रहनेवाले छिद्र रूप आकाश को। वही परम पुरुष परमात्मा आप मेरे गर्भवासी हुए, यह आपकी अद्भुत मनुष्य-लीला नहीं, तो और क्या है? )

प्रलयावसान में अर्थात् सृष्टि के बाद स्थिति के समय जो जगत की प्रत्येक वस्तु की समान दूरी या व्यवधान रखकर संसार को अपने शरीर में धारण करते हैं, उन्होंने हमारे गर्भ से जन्म लिया है, इस बात को संसार के लोग कैसे विश्वास करेंगे? यह लोगों के लिए विडम्बना ही है। **(क्रमशः)**

---

पृष्ठ ३२५ का शेष भाग

नागा संन्यासियों में तीन मुख्य अखाड़े हैं – निरंजनी, निर्वाणी और जूना । इन तीन अखाड़ों के नागा संन्यासी बारी-बारी से एक-एक राज्य में चातुर्मास किया करते थे ।

चातुर्मास के दौरान राणा रोज नागाओं के लिये सीधा भेज देते हैं । बीच-बीच में सेठ लोग भी इन्हें भण्डारा देते हैं । यह चातुर्मास्य दशहरे से शुरू होकर कार्तिकी पूर्णिमा पर समाप्त होता है । इन कुछ महीने नागाओं की पौ-बारह रहती है । खा-पीकर निवास करने के बाद विदाई के समय ये लोग हजार-हजार रुपये और हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि ले जाते हैं । **(क्रमशः)**

# आध्यात्मिक जीवन को स्वभाव बनाओ

**स्वामी सत्यरूपानन्द**

**सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर**

आध्यात्मिक जीवन हमारा स्वभाव बन जाना चाहिए। क्योंकि यह सत्य है कि बिना आध्यात्मिक जीवन के ईश्वरप्राप्ति नहीं होती और बिना ईश्वरप्राप्ति के हमारे सभी दुखों का, त्रितापों का अन्त नहीं होता। अस्थायी या कभी-कभी आध्यात्मिक जीवन जीने से काम नहीं चलेगा। इसे हमें अपना स्वभाव बनाना पड़ेगा। हमें अपने कार्यो से, चरित्र से ऐसे कार्य करने होंगे कि आध्यात्मिकता हमारा स्वभाव हो जायेगी। हमारे जीवन में भगवान की उपासना, आराधना स्वत: होने लगेगी। हमें उसके लिये बलपूर्वक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। स्वाभाविक रूप से हमारा मन भगवान को छोड़कर कहीं नहीं जाएगा।

आध्यात्मिक जीवन को स्वाभाविक बनाने में समय लगता है। इसमें बाधाएँ आती हैं। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हमलोग पूर्व जन्मों के बुरे संस्कार लेकर आये हैं। हम अपने पिछले कर्मो को लेकर आते हैं, तो हमें उस कर्म के अनुसार वैसी परिस्थितियाँ मिलती हैं। बुरे संस्कार इस जन्म में प्रबल होकर हमारे अच्छे कर्म-संस्कार बनने में विघ्न डालते हैं। हमें उन बुरे संस्कारों को कम करने के लिए अच्छे संस्कार डालना चाहिए। इसके लिये सत्कर्म करना चाहिए। इस जन्म के कर्म का हमारे जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। दूसरों की सेवा करने से, नि:स्वार्थभाव से कर्म करने से अच्छे संस्कार बनते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, वे ही जीते हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं। नि:स्वार्थता सबसे बड़ा पुण्य और स्वार्थपरता सबसे बड़ा पाप है। यदि कोई स्वार्थपरक जीवन व्यतीत करते हैं, तो अन्त में उन्हें दुख ही भुगतना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कोई सुखमय जीवन चाहता है, शान्तिमय जीवन चाहता है, तो उसके जीवन में आध्यात्मिक भाव प्रधान होना चाहिए।

जीवन के कर्तव्य कर्म भी ठीक से करने चाहिए। कर्तव्य कर्म श्रीठाकुर की सेवा ही समझकर करना चाहिए। इससे आध्यात्मिक जीवन का निर्माण होता है। आध्यात्मिक जीवन में निरन्तरता होनी चाहिए। हमारा मनोभाव हमेशा आध्यात्मिक होना चाहिए। इससे आध्यात्मिक जीवन स्वाभाविक होने लगता है।

नियमित, निरन्तर सर्वकर्म ईश्वरार्पण करते हुए भगवान की उपासना करो। किसी से राग-द्वेष मत करो। किसी की सम्पत्ति का लोभ मत करो। जीवन में भक्ति ही सार है। जैसा संग करोगे, वैसा बन जाओगो। इसलिये भगवान ने कहा है कि नि:संग, निर्वैर रहो। भगवान से जुड़ो।

लोग सोचते हैं कि जैसा वे चाहते हैं, वैसा तत्काल होना चाहिए। लेकिन जब वैसा नहीं होता है, तो उन्हें दुख होता है। बिना समस्या के ही समस्या हो जाती है। ऐसा न सोचें, परिस्थिति के अनुसार सामंजस्य बनाकर चलें। यदि कोई समस्या जीवन में आती है, तो घबराएँ नहीं, समस्याओं से डरें नहीं। डरने से समाधान का मार्ग बन्द हो जाता है। धैर्य रखें। धैर्यपूर्वक विचार करने से हर समस्या का समाधान हो जाता है। क्योंकि हर समस्या का समाधान भी होता है। अपने पास सबसे बड़ा अस्त्र समस्याओं में अविचलित रहते हुए धैर्यपूर्वक भगवान से प्रार्थना करना है। भगवान हमारी परीक्षा लेते हुए भी किसी-न-किसी व्यक्ति से सहायता कराते हैं। समस्याओं के समाधान के लिए कोई-न-कोई सहायता मिल ही जाती है। लेकिन हम जैसा चाहते हैं, वैसा नहीं होगा, जैसा भगवान चाहते हैं और जिसमें हमारा कल्याण होगा, वैसा होगा। भगवान से प्रार्थना करने से सब विपत्तियाँ टल जाती हैं।

अपने ऊपर विश्वास न होना, यह जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। सबसे मूल बात सुरक्षा की है, तो अपने को कभी असुरक्षित न समझें। आत्मविश्वास रखें। दृढ़तापूर्वक भगवान पर विश्वास रखें – विश्वासफलदायकम्। हमारी सहायता के लिए भगवान सदा हमारे साथ हैं, वे रक्षा करेंगे ही, हमारा कभी भी अहित नहीं होगा, मैंने किसी का अहित नहीं किया है, तो कभी भी मेरा अहित नहीं होगा, ऐसा विश्वास रखें। भगवान ने बुद्धि दी है, उसका अच्छा उपयोग करें। विश्वास सावधानी पूर्वक करें, जिससे हमारी सरलता को कोई मूर्खता न समझे।

इसके बाद सबसे मुख्य बात है सतत भगवान का स्मरण रखना। भगवान के पास प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवान सबका कल्याण हो और मेरा भी कल्याण हो। ○○○

# बालक उपमन्यु की गुरुभक्ति


## स्वामी पद्माक्षानन्द

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर**


प्राचीन भारत में ऋषि-मुनि जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे। वहीं पर साधन-भजन करते तथा शिष्यों को विद्यादान किया करते थे। इन ऋषियों में एक प्रसिद्ध ऋषि आयोदधौम्य थे। महर्षि धौम्य अपनी विद्या, तपस्या, अद्भुत उदारता के कारण विख्यात थे। महर्षि धौम्य शिष्यों का चरित्र-निर्माण करने के लिए कठोर व्यवहार भी करते थे, लेकिन उनका हृदय वात्सल्य से भरा हुआ था।

महर्षि धौम्य के अनेकों शिष्य थे, उन शिष्यों में से एक बालक शिष्य का नाम उपमन्यु था। आश्रम में जो भी रहता था, उसे कोई-न-कोई सेवाकार्य करना पड़ता था। महर्षि ने उपमन्यु को अपनी गायें चराने का काम दिया। उपमन्यु सुबह आश्रम से गायों को लेकर वन में चला जाता, दिनभर गायों की देखरेख करता और शाम के समय आश्रम वापस आ जाता था। यही उसकी दिनचर्या थी।

एक दिन बालक को बुलाकर महर्षि ने पूछा, ''उपमन्यु! तुम भोजन कहाँ से प्राप्त करते हो?''

उपमन्यु ने सरलता से उत्तर दिया, ''गुरुवर! मैं भिक्षा से अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ।''

गुरुदेव ने कहाँ, ''पुत्र! एक ब्रह्मचारी को भिक्षा से प्राप्त अन्न को गुरुदेव को समर्पित किए बिना नहीं खाना चाहिए। गुरुदेव को पूरी भिक्षा लाकर देनी चाहिए तथा गुरु उसमें से यदि कुछ खाने को दें, तो उसे ग्रहण करना चाहिए।'' उपमन्यु ने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया।

अब से भिक्षा में जो भी कुछ मिलता, उपमन्यु लाकर अपने गुरुदेव के सामने रख दिया करता था। बालक की श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए महर्षि धौम्य पूरी भिक्षा अपने पास रख लेते; उसमें से कुछ भी उपमन्यु को नहीं देते।

कुछ दिनों के बाद गुरुदेव ने उपमन्यु से पूछा, ''वत्स! आजकल तुम क्या खाते हो? क्योंकि तुम भिक्षा का पूरा अन्न तो मुझे लाकर दे देते हो!''

उपमन्यु ने उत्तर दिया, ''भगवन्! मैं दुबारा भिक्षा माँगकर खाता हूँ।''

महर्षि ने कहा, ''दुबारा भिक्षा माँगना तो धर्म के विरुद्ध है। इससे भिक्षा देनेवालों को अधिक भार वहन करना पड़ सकता है तथा अन्य भिक्षा माँगनेवालों को भी संकोच होगा। अत: तुम दूसरी बार भिक्षा मत माँगा करो।''

उपमन्यु ने कहा, ''जो आज्ञा।'' उपमन्यु ने दुबारा भिक्षा माँगना बन्द कर दिया। कुछ दिनों के बाद महर्षि ने पुन: बालक उपमन्यु से पूछा, ''पुत्र! अब तो तुम दुबारा भिक्षा के लिए भी नहीं जाते, तब क्या खाकर जीवित रहते हो।''

उपमन्यु ने उत्तर दिया, ''भगवन्! मैं जिन गायों को चराने के लिए ले जाता हूँ, उनका दूध पी लिया करता हूँ।''

महर्षि ने बालक से कहा, ''यह तो ठीक नहीं है। गाय का जो स्वामी होता है, दूध भी उसी का होता है। अत: मुझसे पूछे बिना गायों का दूध तुम्हें नहीं पीना चाहिए।''

बालक उपमन्यु ने अब दूध पीना भी छोड़ दिया। इसी तरह कुछ दिन बीतने के बाद महर्षि ने पुन: उपमन्यु से पूछा, ''पुत्र! तुम भिक्षा मुझे दे देते हो, दुबारा भिक्षा के लिए नहीं जाते तथा गायों का दूध भी नहीं पीते, लेकिन तुमको देखकर तो नहीं लगता कि तुम बहुत दिनों से भूखे हो।''

बालक ने सरलता से उत्तर दिया, ''आचार्य! मैं बिना भोजन किये नहीं रहता। बछड़ों के मुख से जो फेन गिरता है, उसे पीकर मैं अपनी भूख मिटा लेता हूँ।''

महर्षि धौम्य ने कहा, "पुत्र! बछड़े बहुत दयालु होते हैं। वे स्वयं भूखे रहकर तुम्हारे लिए अधिक फेन गिरा देते होंगे। अत: तुमको यह करना भी शोभा नहीं देता।"

बालक उपमन्यु अब पूरी तरह से भूखा रहने लगा। उसे दिनभर गायों को वनों में चराना पड़ता था। इस प्रकार कई दिन बीत गये। अन्त में जब उससे भूख सही नहीं गयी, तब वह भोजन करने के उपाय ढूँढ़ने लगा; किन्तु कुछ भी खाने को नहीं मिल रहा था। अन्त में उसने आक (मन्दार) के पत्ते खाकर अपनी भूख की ज्वाला को शान्त किया। आक के पत्ते विषैले होते हैं। उपमन्यु ने भूख से बेचैन होकर आक के पत्ते तो खा लिये, लेकिन विषैले पत्तों के कारण वह अन्धा हो गया।

सन्ध्या होने वाली थी; उसे आश्रम वापस आना था, किन्तु उसे कुछ भी नहीं दीख रहा था। अत: वह गायों के चलने की आवाज सुनकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। रास्ते में एक कुआँ था, उसमें वह गिर गया। भगवान की कृपा से उस कुआँ में पानी नहीं था वह डूबकर मरा नहीं, किन्तु उसी कुआँ में पड़ा रहा, क्योंकि अन्धा होने के कारण उसे बाहर निकलने का रास्ता नहीं दिख रहा था।

अँधेरा हो गया; सब गायें वापस आ गयीं, लेकिन गुरु धौम्य ने देखा कि अभी तक बालक उपमन्यु लौटकर आश्रम नहीं आया। गुरुदेव चिन्तित हो गये। वे सोचने लगे, "मैंने उस भोले बालक का भोजन सभी प्रकार से बन्द कर दिया, शायद इतना कष्ट सहन न कर सकने के कारण वह भाग गया होगा।" बहुत सोच-विचार करने के बाद महर्षि धौम्य उपमन्यु की खोज करने जंगल की ओर चल दिये। महर्षि जंगल में उसे ढूँढ़ने लगे और उसका नाम लेकर ऊँची आवाज में पुकारने लगे, "बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो?"

महर्षि उपमन्यु को पुकारते हुए इधर-उधर खोजने लगे। गुरुदेव की आवाज उपमन्यु के कानों में पड़ी। वह कुएँ के भीतर से ही गुरुदेव से बोला, "भगवन् ! मैं इधर हूँ। कुएँ में गिर गया हूँ।" बालक की आवाज सुनकर गुरुदेव उसके पास आये। महर्षि ने उसके आश्रम वापस न आने का कारण पूछा, तो उपमन्यु ने सारी घटना उनको बतला दी। महर्षि ने जब सारी बातें सुनी, तो उनकी आँखें भर आयीं। उन्होंने बालक उपमन्यु को ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ कर अश्विनीकुमारों की स्तुति करने की आज्ञा दी। उपमन्यु ने श्रद्धापूर्वक स्वर के साथ अश्विनीकुमारों का आह्वान करना आरम्भ किया। उपमन्यु की स्तुति से सन्तुष्ट होकर अश्विनीकुमार प्रकट हो गये। अश्विनीकुमारों ने उपमन्यु से आह्वान करने का कारण पूछा। कारण मालूम होने पर उन्होंने उपमन्यु के नेत्रों को अच्छा कर दिया। उपमन्यु अब देखने लगा। अश्विनीकुमारों ने उपमन्यु को एक पूआ खाने के लिए दिया। बालक उपमन्यु ने उस पूआ को अपने गुरुदेव महर्षि धौम्य को अर्पित करना चाहा। अश्विनी कुमारों ने उपमन्यु से कहा, "वत्स! तुम संकोच मत करो। हम तुमको यह प्रसाद के रूप में दे रहे हैं, तुम इसे खा लो। तुम्हारे गुरुदेव ने भी हमारे द्वारा दिया हुआ प्रसादी पूआ को अपने गुरु को अर्पित किए बिना ही खा लिया था।"

उपमन्यु ने विनम्रता से कहा, "प्रभो! वे मेरे गुरुदेव हैं, उन्होंने चाहे जो कुछ भी क्यों न किया हो; पर मैं उनको अर्पित किये बिना कुछ भी स्वीकार नहीं करूँगा।"

बालक उपमन्यु की इस गुरुभक्ति से अश्विनीकुमार बहुत प्रसन्न हुए। अश्विनीकुमारों ने उपमन्यु को बिना अध्ययन किये सभी विद्याएँ प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया और वे अन्तर्ध्यान हो गए। उपमन्यु कुएँ से बाहर निकला, तो महर्षि आयोदधौम्य ने उसे हृदय से लगा लिया। बालक उपमन्यु की गुरु के प्रति यह भक्ति हम सभी के लिए प्रेरणादायी है। ○○○

---

पृष्ठ ३१२ का शेष भाग

**अन्त:करण-वृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता ।**
**वासना: कल्पयेत् स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान् बहि: ।।११।।**

अन्वयार्थ – **अन्त:करण-वृत्ति:** अन्त:करण एक वृत्ति है **च** और (वह) **चिति-छाया-ऐक्यं** चैतन्य-आभास के साथ तादात्म्य को **आगता** प्राप्त करके **स्वप्ने** स्वप्न में **वासना:** विचारों की **कल्पयेत्** सृष्टि करती है (तथा) **बोधे** जाग्रत अवस्था में **अक्षै:** इन्द्रियों के साथ **बहि:** बाह्य **विषयान्** विषयों की (**कल्पयेत्** सृष्टि करती है)।

**भावार्थ** – अन्त:करण एक वृत्ति है और (वह) चिदाभास या चैतन्य की छाया के साथ तादात्म्य को प्राप्त करके – स्वप्न में विचारों की सृष्टि करती है (तथा) जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के साथ बाह्य विषयों की (सृष्टि करती है)।

**(क्रमश:)**

# भजन एवं कविता

## जय श्रीरामकृष्ण देव

### धनराज मेवाड़ा

श्रीरामकृष्ण देव जय, श्रीरामकृष्ण देव ।
सत्यमेव जयते जय जय सत्यमेव ।।
श्रीरामकृष्ण देव जय, श्रीरामकृष्ण परमहंस ।
माँ काली के भक्त आप परमात्मा के अंश ।।
माँ सारदा और भक्तों को दिलाए विश्वास ।
अपनी सदा उपस्थिति का कराए अहसास ।।
स्वामी विवेकानन्द को जो दिए आत्मज्ञान ।
उससे उन्होंने किया सारे जग का कल्यान ।।
हम सभी कृतज्ञ आपके हे श्रीरामकृष्ण देव ।
सत्यमेव जयते जय जय सत्यमेव ।।

## ठाकुर बोलो कब आओगे?

### डॉ. सत्येन्दु शर्मा

ठाकुर बोलो कब आओगे?
हम दीन-हीन हम दिग्विहीन, दुर्गुण-भवन यह मन मलिन ।
पाप-पंक हम आकंठ मग्न, दुर्गन्धयुक्त यह तन-नलिन ।
स्नेह-सुधा से सिंचित करके, निर्मलता कब लाओगे?
भूलों को याद दिलाते हो, भटकों को पथ दिखलाते हो ।
जा पहुँचा जो भी चरणों में, उस पर करुणा दिखलाते हो ।।
नित मोह-भँवर में डूब रहे, कब ईश-मार्ग दिखलाओगे?
'जो आयेगा, सब पायेगा, शेष न कोई खाली हाथ ।'
हम तो पहुँच न पाये तुम ही सर्वसमर्थ कर दो सनाथ ।
हम गतिहीन लाचारों से कब अपना वचन निभाओगे?
ठाकुर बोलो कब आओगे?

## जिनके चित्त में गुरु ज्ञान बसै

### स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

जिनके चित्त में गुरु ज्ञान बसै,
तिन को कहा वेद बखानिये जू ।
बिन आतम-बोध न चैन कहूँ,
मन पन्थ अनेकन छानिये जू ।।
कबहूँ सपने में राजेश कहैं,
खल की परतीत न आनिये जू ।
मन इन्द्रिय जीत करै बस जो,
शुचि सन्त सोई पहचानिये जू ।।

## नित बहाओ इन्हें हरि नमन के लिए

### मुक्ताप्रसाद गुप्त 'रत्नेश'

अश्रु होते नहीं हैं रुदन के लिए ।
नित बहाओ इन्हें हरि नमन के लिए ।।
मोह ममता में इनको बहाना नहीं ।
अरु बहाओ न मान-शान-धन के लिए ।। अश्रु ...
दीनता-हीनता में न अश्क बहा,
ये हैं तेरे चमन उन्नयन के लिये । अश्रु होते नहीं ...
ये दिल दुखाने न आए, समझ निज हिए,
ये तो आते हैं नूतन सृजन के लिए । अश्रु होते ...
जग लखने न पाए इन्हें बहते हुए,
ये सुधा सम तव आचमन के लिए ।। अश्रु होते ...
गर रोकने न पाओ इन्हें बहने से,
तो छलकाओ कृष्ण-मिलन के लिए ।। अश्रु होते ...
गोपियों से ये सीखो सिखन तुम सखे,
नैन निरझर बहैं प्रेम धन के लिए । अश्रु होते नहीं ...
साधना कर तू रत्नेश ऐसी सदा,
क्षीर सागर हो विष्णु शयन के लिए । अश्रु होते ...

# जीवन-निर्माण की कुछ बातें

## डॉ. जगदीश गाँधी, लखनऊ

शास्त्रों में मनुष्य-देह को परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा गया है, परन्तु अनेक मनुष्य इस अमूल्य मानव-शरीर को प्राप्त कर भी इसका दुरुपयोग असत् कार्यों में करते देखे जाते हैं। ऐसे ही लोगों के लिये 'धरती का भार होने' की संज्ञा दी जाती है। पेड़-पौधे जंगल में भी होते हैं और उपवन में भी, किन्तु उनमें अन्तर यह होता है कि एक श्रेष्ठ माली उपवन के पौधों को एक श्रेष्ठ स्वरूप देता है जबकि जंगल में वे झाड़-झंखाड़ के रूप में बढ़ते रहते हैं। इसी प्रकार मानव-जीवन की भी बात है। शास्त्र प्रतिपादित श्रेष्ठ चिन्तनरूपी माली एक श्रेष्ठ जीवन का निर्माण करता है, इसके विपरीत जीवन तो अधोगति कराने वाला ही होता है। हम सबका जीवन श्रेष्ठ मानव-जीवन बन सके, इसी उद्देश्य से यहाँ जीवन-निर्माण की कतिपय बातें प्रस्तुत हैं –

**(१) सोच सकारात्मक हो –** कमरे में अँधेरा हो, तो अँधेरा लाठी से भगाने से नहीं भागेगा, न ही 'अँधेरा भाग जाओ, अँधेरा भाग जाओ' चिल्लाने से अँधेरा दूर होगा। कमरे में लगे बिजली के स्विच को ऑन कर देने से ही अँधेरा दूर होगा। इसलिये कहा जाता है कि अन्धकार का कोई अस्तित्व नहीं होता। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। ज्ञान-प्रकाश करने से ही अज्ञान के अँधेरे से बाहर निकला जा सकता है। अन्धकार को धिक्कारने से नहीं, वरन् एक दीप जलाने से अँधेरा दूर होगा।

**(२) आध्यात्मिक बनें –** जीवन में पीछे की ओर चलने से नहीं, बल्कि आगे की ओर बढ़ने से लक्ष्य मिलता है। बात तब बनती है, जब मन में दृढ़ इच्छाशक्ति हो। उत्साह तथा उल्लास को सदा प्रयत्नपूर्वक बढ़ाते रहना चाहिये। प्रतिदिन पूर्व से उगता सूरज यह सन्देश लेकर आता है कि हमें प्रति पल प्रभु का कार्य अर्थात् लोक-कल्याण करना है। आत्मा की पुकार है। हर पल परमात्मा के साथ रहें। हमें बाँसुरी की तरह पोला बनना है, अपने जीवन से अहंकार को हटाना है। तभी हमारे अन्दर से, हमारे कार्य से प्रभु की इच्छा से भरा मधुर सुर प्रस्फुटित होगा और हमारा जीवन संगीत बन जाएगा। जिस प्रकार एक बच्चा अपने माता-पिता को एक पल के लिये भी नहीं छोड़ना चाहता है, ठीक उसी प्रकार हमारा भी अपनी आत्मा के माता-पिता परमात्मा से भी ऐसा प्रेम होना चाहिये।

**(३) परमात्मा की प्रसन्नता हेतु लोक-कल्याण से अपना जीवन धन्य करें –** हमें आत्मा की आवाज अनसुनी नहीं करनी चाहिये। जीवन हर पल हमारी परीक्षा लेता है। हम किस मिट्टी के बने हैं, इसकी कसौटी हर पल हमारे सामने होती है। परमात्मा ने सबको विशिष्ट बनाया है। हम सभी परमात्मा की सन्तान हैं, हम सभी उसके पुत्र हैं, अत: उनकी प्रसन्नता के लिये प्राणिमात्र के हित के लिये कार्य करना चाहिये।

**(४) जीवन के प्रत्येक क्षण को मनोयोग-पूर्वक जीने का प्रयत्न करना चाहिये –** जीवन का कौन-सा पल अन्तिम होगा, यह कोई नहीं जानता। जिस व्यक्ति के पल सँभल गये, उसके मिनट सँभल गये, जिसके मिनट सँभल गये, उसके घंटे सँभल गये, उसके दिन सँभल गये, उसके महीने सँभल गये। जिसके महीने सँभल गये, उसके वर्ष सँभल गये और जिसके वर्ष सँभल गये, उसका जीवन सँभल गया। इसलिये आवश्यक है कि जीवन का प्रति पल कर्तव्यनिष्ठ होकर सच्चाई से जीएँ।

**(५) जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक रूप से साहसी बनने में है –** शक्ति का स्रोत है – 'अभय'। जो प्रभु के पथ पर चलने में आनेवाली कठिनाइयों तथा बाधाओं से नहीं डरता, वह निर्बल होते हुए भी मजबूत जीवट वाला व्यक्ति होता है। लेकिन आसान बात नहीं है 'अभय' होना। भय तो हर समय हर कहीं है। आज स्वास्थ्य और तनाव की समस्या का एक बड़ा कारण है – भय या डर। भय शरीर को ही नहीं, मनोबल को भी कमजोर करता है। अनेक भयंकर बीमारियों का कारण भी यह भय ही है। अपना जीवन परमात्मा के हाथों में सौंपकर ही हम 'अभय' हो सकते हैं; क्योंकि परमात्मा की ही इच्छा और आवश्यकता के कारण प्राणी का जीवन धरती पर है।

**(६) जीवन में सन्तुलन बनाये रखें –** सफल जीवन भौतिकता, सामाजिकता तथा आध्यात्मिकता के सन्तुलन का नाम है। जीवन की इन तीनों वास्तविकताओं में जो सन्तुलन स्थापित करता है, वही जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल होता है।

**(७) हर परिस्थितियों में जीवन का सम्मान करना चाहिये –** कहते हैं कि सच्चे अर्थों में वही महान होता

है, जो अपने दुखों को भुलाकर परोपकार में जुट जाता है। कई बार ऐसा होता है कि मौत की आहट सुनकर हमें जीना होता है। इस बात को असाध्य रोग से ग्रसित रोगियों को देखकर आसानी से समझा जा सकता है। उन्हें निरन्तर शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा महसूस होती है। यहाँ मुख्य बात यह है कि ऐसी हालत में भी आप जीवन के प्रति कैसा रवैया रखते हैं। दुखों और कष्टों से घबराकर पलायनवादी और आत्मघाती प्रवृत्ति तो मूर्खता ही है, क्योंकि समय और परिस्थितियाँ शाश्वत नहीं, परिवर्तनशील हैं। जीवन में सुख-दुख तो आते-जाते ही रहते हैं।

**(८) सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं, वरन् हमारे सोचने के तरीके पर निर्भर होता है –** यदि हमें सुखी होने के लिये दूसरे की जरूरत पड़ती है, तो यह एक तरह की दूसरे की इच्छा पर निर्भरता हुई और हर तरह की परनिर्भरता दुखदायक होती है। दूसरा व्यक्ति आकर मुझे खुश करे, ऐसी अपेक्षा ही क्यों करें? वह दूसरा व्यक्ति भी यही अपेक्षा लिये बैठा है कि उसे भी कोई खुश करे। जब हम संसार में अर्थात् किसी वस्तु में, किसी घटना में, किसी व्यक्ति में सुख खोजते हैं, तो अन्तिम परिणाम सिवाय दुख के और कुछ नहीं होता। परमात्मा का नाम ही हमारा आरोग्य है तथा परमात्मा का स्मरण ही हमारी औषधि है।

**(९) जीवन में आत्मकेन्द्रित होने से बचना चाहिये –** केवल अपने हर काम को, विचार को या दृष्टिकोण को ही सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझना चाहिये, अगर हम इस तरह की किसी आदत से परेशान हैं, तो उसे दूर करना चाहिये। हम जब अपने हर काम को सबसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं, तो केवल खुद को ही महत्त्व देते हैं। हम जब आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं, तो दूसरे के पक्ष तथा दृष्टिकोण को समझने की हमारी क्षमता क्षीण होती जाती है। किसी व्यक्ति में हजार गुण होने के बावजूद यदि उसमें एक स्वार्थ रूपी अवगुण आ जाय, तो उसके सारे गुण समाप्त हो जाते हैं।

**(१०) 'सदा अच्छा कार्य और सभी अच्छे कार्य के लिये समय' का स्वभाव विकसित करें –** कहावत है – 'In this short span of life man should do virtuous deeds' अर्थात् क्षणभंगुर जीवन में मनुष्य को अच्छे कार्य करने चाहिये। अच्छे कार्य से तात्पर्य है, ऐसे कार्य, जिनसे समाज और मानवता का भला हो। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य भी है कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन से समय निकालकर अच्छे कार्य करे।

**(११) सारी वसुधा एक कुटुम्ब के समान है –** यह सारी धरती एक देश है तथा हम सभी इसके नागरिक हैं। सारी वसुधा एक कुटुम्ब के समान है, उस परमात्मा के नाते, जिसने इस धरती और उसके प्राणियों को बनाया है, हम सब कुटुम्बी और बन्धु-बान्धव हैं, वह परमात्मा ही हमारा परम पिता है। भारतीय संस्कृति सदा से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करती रही है। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि उस परम पिता परमात्मा के नाते सबको अपना बन्धु माने और उसके कल्याण का प्रयास करें। ○○○

# रामकृष्णमय हो जाओ

## अक्षय कुमार सेन

**हिन्दी प्रस्तुति – रामकुमार गौड़, वाराणसी**

**रामकृष्ण का जप कर हे मन ! गाओ रामकृष्ण का नाम ।**
**पहले तर तुम भवसागर से, मुझको तारो बन निष्काम ।।**
**अर्चन-वन्दन, ध्यान-भजन कर, रामकृष्णमय हो जाओ ।**
**सकल जगत के सारतत्त्व वे, इसी ज्ञान में खो जाओ ।।**
**हे मन ! छोड़ कपट-चतुराई, सदा पुकारो प्रभु सुखधाम ।**
**प्राणिमात्र के हितकारी वे, समदर्शी भवतारक नाम ।।**
**छोड़ो, छोड़ो ! काम-कांचन, धिक् धिक् तुमको हे मम मन !**
**क्यों निष्फल इच्छा करते हो, खोकर अपना जीवन धन ।।**
**खोज रहे क्यों मृगतृष्णा जल, हरिचरणामृत छोड़ अरे !**
**अचरज भरा जगत यह ऐसा, ज्यों सेमर तरु पुष्प भरे ।।**
**भग्न मनोरथ होकर भी नित ग्रहण न करते कुछ शिक्षा ।**
**माया-अन्ध सदा तुम माँगा, करते इच्छा पूरण भिक्षा ।।**
**जग-प्रपंच के काँटों से है, बिंधा हुआ तेरा तन-मन ।**
**श्वास कंठ में घुटता है दम, फिर भी छुटे न भवबन्धन ।।**
**एक बार करके तो देखो, हे मन ! रामकृष्ण गुणगान ।**
**सहज ज्ञान तुम पा जाओगे, नहिं कछु प्रभु के नाम समान ।**
**प्रभु का नाम पतित पावन है, सुलभ सभी को उनका नाम ।**
**प्रभु से एकबार बिनती कर होकर धन्य रटो गुणग्राम ।।**
**अमृत से भी अधिक मधुर है, रामकृष्ण प्रभुवर का नाम ।**
**नामगान से भक्त-हृदय में मूर्तिमान रहते छविधाम ।।**

# समाचार और सूचनाएँ

## मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ भाव-प्रचार परिषद का वार्षिक सम्मेलन सम्पन्न हुआ

६ और ७ अप्रैल, २०१९ को मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ भावप्रचार परिषद का वार्षिक सम्मेलन श्रीरामकृष्ण आश्रम, त्रिवेणी नाका, इन्दौर रोड, उज्जैन में आयोजित हुआ। ६ अप्रैल, २०१९ को प्रथम सत्र ९ बजे से प्रारम्भ हुआ। संन्यासियों द्वारा दीप-प्रज्वलन, त्रिदेव अर्चना के बाद अतिथियों का स्वागत और भजन हुआ। श्रीरामकृष्ण आश्रम, उज्जैन के सचिव श्री पी. के. चौधरीजी ने अतिथि संन्यासियों, स्वशासी केन्द्रों से आगत सभी भक्तों का स्वागत किया। भावप्रचार परिषद के संयोजक स्वामी तन्मयानन्द जी ने संक्षिप्त प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उसके बाद रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव और मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ भावप्रचार परिषद के अध्यक्ष स्वामी व्याप्तानन्द जी ने व्याख्यान दिया। तत्पश्चात् रामकृष्ण मिशन आश्रम, ग्वालियर के सचिव स्वामी राघवेन्द्रानन्द जी, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव और बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि स्वामी सुखानन्द जी ने व्याख्यान दिये। द्वितीय सत्र में भाव-प्रचार परिषद के विभिन्न केन्द्रों से आए हुए प्रतिनिधियों ने अपने-अपने आश्रम के छह मास के कार्यों और भावी योजनाओं का वाचन किया। उसके बाद विवेक ज्योति के सम्पादक और भावप्रचार परिषद के उपाध्यक्ष स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने आश्रम के सुचारु संचालन हेतु कुछ बिन्दुओं पर चर्चा की।

तीसरे सत्र में भी प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिवेदन वाचन हुआ। चतुर्थ सत्र, परिषद के विधायी सत्र में विवेकानन्द विद्यापीठ कोटा, के कार्यालय प्रमुख श्री मनोज यादव जी ने पूर्व अर्द्धवार्षिक सम्मेलन का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसे सबने सहर्ष अनुमोदित किया। स्वामी तन्मयानन्द जी ने परिषद का सितम्बर-२०१८ से मार्च २०१९ तक छह माह का एकाउन्ट प्रस्तुत किया। सम्बद्धता हेतु प्रतिक्षित केन्द्रों पर विचार-विमर्श हुआ। स्वामी तन्मयानन्द जी को पुन: दो वर्षों के लिए संयोजक हेतु चयन किया गया। प्राइवेट आश्रमों में शिक्षक-प्रशिक्षण और अन्य विषयों पर चर्चा हुई, जिसका स्वामी व्याप्तानन्द जी ने समाधान किया। उसके बाद रामकृष्ण मिशन, इन्दौर के सचिव और भावप्रचार परिषद के उपाध्यक्ष स्वामी निर्विकारानन्द जी ने प्रवचन दिया। श्रीरामकृष्ण आश्रम, उज्जैन के अध्यक्ष स्वामी भास्करानन्द जी ने धन्यवाद दिया।

७ अप्रैल, २०१९ को ९ बजे से १२.३० तक भक्त सम्मेलन था, जिसमें स्वामी प्रपत्त्यानन्द, स्वामी निर्विकारानन्द, स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी सुखानन्द, स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी व्याप्तानन्द जी ने विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर प्रवचन दिया। ३ से ६ बजे तक भक्तों को उज्जैन-दर्शन कराया गया। शाम ७ बजे डॉ. आभा चौरसिया और डॉ. विभा चौरसिया के भजन और डॉ. चेतन यादव जी के मैण्डोलियन वादन से सम्मेलन समाप्त हुआ। कुल १५० भक्तों ने भाग लिया।

## विवेकानन्द विद्यापीठ में युवा शिविर का आयोजन

२३ और २४ मार्च, २०१९ को छत्तीसगढ़ संस्कृति विभाग के सहयोग से विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया। २३ मार्च को प्रथम सत्र १० से ११.३० बजे तक चला, जिसमें रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल के सचिव स्वामी नित्यज्ञानानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी ज्ञानगम्यानन्द और स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने युवकों को सम्बोधित किया। उद्घाटन सत्र १२ से १ बजे तक था, जिसमें मुख्य अतिथि और वक्ता थे छत्तीसगढ़ के महाधिवक्ता श्री कनक तिवारी जी, विशिष्ट अतिथि थे छत्तीसगढ़ स्टेट पावर कम्पनी, रायपुर के अध्यक्ष श्री शैलेन्द्र शुक्ला जी और सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने की।

डॉ. ओमप्रकाश वर्मा द्वारा सम्पादित 'जगद्‌गुरु श्रीरामकृष्ण' नामक पुस्तक का विमोचन हुआ। अन्य सत्रों में इन्दौर के स्वामी निर्विकारानन्द, कलकत्ता के स्वामी शुद्धिदानन्द, बी.एच.यू., से प्रो. अवधेश प्रधान, रायपुर के स्वामी अव्ययात्मानन्द, डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, प्रो. मनीषा दूबे, डॉ. हिमांशु द्विवेदी, कुलपति प्रो. केशरीलाल वर्मा, कलकत्ता से स्वामी पूर्णानन्द और रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने युवकों को सम्बोधित किया। शिविर में कुल ३०० युवक-युवतियाँ उपस्थित थे। OOO